

Hindu Temple of Ottawa-Carleton Inc.  
4835 Bank Street, Ottawa, Ontario K1X 1G6

हरि गीता



## गीताध्यान

ओं पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं  
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम् ।  
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीं, अष्टादशाध्यायिनीं  
अंब त्वां अनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीं ॥ 1

नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायत पत्रनेत्र ।  
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥ 2

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रकेत्रैकपाणये ।  
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥ 3

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।  
पार्थावत्स्यः सुधीर्भाक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ 4

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।  
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगत् गुरुम् ॥ 5

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला  
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला ।  
अश्वत्थाम विकर्ण घोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी  
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवैः रणनदी कैवर्तकः केशवः ॥ 6



पाराशर्यवचः सरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं  
नानाख्यानककेसरं हरिकथा संबोधनाबोधितम् ।

लोकसञ्जन षट् पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा  
भूयाद्भारतपङ्कजं कलिमल प्रध्वंसिनः श्रेयसे ॥ 7

मूकं करोति वाचालं पङ्कुं लङ्घयते गिरिम् ।  
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवं । 8

यं ब्रह्म वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैः  
वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैः गायन्ति यं सामगाः ॥  
ध्यानावस्थित तद्गतेनमनसा पश्यन्ति यं योगिनः  
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणाः देवाय तस्मै नमः ॥ 9

पहला अध्याय  
अर्जुन विषाद योग

- धृतराष्ट्र ने कहा  
रण लालसा से धर्म भू कुरुक्षेत्र मे एकत्र हो ।  
मेरे सुतों ने पाण्डवों ने क्या किया संजय कहो ॥ १
- संजय ने कहा  
तब देखकर पाण्डव-कटक को व्यूह रचना साज से ॥  
इसभाँति दुर्योधन वचन कहने लगे गुरुराज से ॥ २
- आचार्य महती सैन्य सारी पाण्डवों की देखिए ।  
तब शिष्य बुधवर द्रुपद-सुत ने दल सभी व्यूहित किये ॥ ३
- भट भीम अर्जुन से अनेकों शूर श्रेष्ठ धनुर्धरे ।  
सात्यकि द्रुपद योद्धा विराट महारथी रणबांकुरे ॥ ४
- काशी नृपति भट धृष्टकेतु व चकितान नरेश है ।  
श्री कुन्तिभोज महान पुरुजित शैव्य वीर विशेष है ॥ ५
- श्री उत्तमौजा युधामन्यु पराक्रमी वरवीर हैं ।  
सौभद्र, सारे द्रौपदेय, महारथी रणधीर हैं ॥ ६
- द्विजराज! जो अपने कटक के श्रेष्ठ सेनापति सभी ।  
सुन लेजिए मैं नाम उनके भी सुनाता हूँ सभी ॥ ७
- हैं आप फिर श्री भीष्म, कर्ण, अजेय कृप रणधीर हैं ।  
भूरिश्रवा गुरुपुत्र और विकर्ण से बलवीर हैं ॥ ८
- रण साज साजे निपुण शूर अनेक ऐसे बल भरे ।

- मेरे लिए तैयार हैं, जीवन हथेली पर धरे ॥ ९
- श्री भीष्म-रक्षित हैं नहीं, पर्याप्त अपना दल बडा ।  
फिर भीम रक्षा मे उधर, पर्याप्त उनका दल खडा ॥ १०
- इस हेतु निज निज मोरचों पर, वीर पूरा बल धरें ।  
सब ओर चारों छोर से, रक्षा पितामह की करें ॥ ११
- कुरुकुल-पितामह तब नृपति-मन मोद से भरने लगे ।  
कर विकट गर्जन सिंह-सी, निज शंखध्वनि करने लगे ॥ १२
- फिर शंख भेरी ढोल आनक गोमुखे चहुँ ओर से ।  
सब युद्ध बाजे एक दम बजने लगे ध्वनि घोर से ॥ १३
- तब कृष्ण अर्जुन श्वेत घोडों से सजे रथ पर चढे ।  
निज दिव्य शंखों को बजाते वीरवर आगे बढे ॥ १४
- श्रीकृष्ण अर्जुन पाञ्चजन्य व देवदत्त गुंजा उठे ।  
फिर भीमकर्मा भीम पौण्ड्र निनाद करने मे जुटे ॥ १५
- करने लगे ध्वनि नृप युधिष्ठिर, निज अनन्त विजय लिये ।  
गुंजित नकुल सहदेव ने सु-‘सुघोष’ ‘मणिपुष्पक’ किये ॥ १६
- काशी नरेश विशाल धनुधारी, शिखण्डी वीर भी ।  
भट धृष्टद्युम्न, विराट, सात्यकि, श्रेष्ठ योधागण सभी ॥ १७
- सब द्रौपदी के सुत, द्रोपद, सौभद्र बल भरने लगे ।  
चहुँ ओर राजन्! वीर निज निज शंख-ध्वनि करने लगे ॥ १८

- वह घोर शब्द विदीर्ण सब कौरव हृदय करने लगे ।  
चहुँ ओर गूँज वसुन्धरा आकाश मे भरने लगे ॥ १९
- सब कौरवों को देख रण का साज सब पूरा किये ।  
शस्त्रादि चलने के समय अर्जुन कपिध्वज धनु लिये ॥ २०
- श्री कृष्ण से कहने लगे आगे बढा रथ लीजिये ।  
दोनो दलों के बीच में अच्युत! खडा कर दीजिये ॥ २१
- करलूं निरीक्षण युद्ध में जो जो जुडे रणधीर हैं ।  
इस युद्ध में माधव! मुझे जिन पर चलाने तीर हैं ॥ २२
- मै देखलूं रणहेतु जो आये यहाँ बलवान् हैं ।  
जो चाहते दुर्बुद्धि दुर्योधन-कुमति-कल्याण हैं ॥ २३
- संजय ने कहा  
श्रीकृष्ण ने जब गुडाकेश-विचार, भारत! सुन लिया ।  
दोनो दलों के बीच में जाकर खडा रथ को किया ॥ २४
- राजा, रथी, श्रीभीष्म, द्रोणाचार्य के जा सामने ।  
लो देखलो! कौरव कटक, अर्जुन कहा भगवान् ने ॥ २५
- तब पार्थ ने देखा वहाँ, सब हैं स्वजन बूढे बडे ।  
आचार्य भाई पुत्र मामा, पौत्र प्रियजन हैं खडे ॥ २६
- स्नेही ससुर देखे खडे, कौन्तेय ने देखा जहाँ ।  
दोनो दलों मे देखकर, प्रिय बान्धु बान्धव ही वहाँ ॥ २७

- कहने लगे इस भाँति तब, हो कर कृपायुत खिन्न-से ।  
हे कृष्ण! रण मे देख कर, एक्त्र मित्र अभिन्न-से ॥ २८
- होते शिथिल हैं अंग सारे, सूख मेरा मुख रहा ।  
तन कापता थर-थर तथा रोमाञ्च होता है महा ॥ २९
- गांडीव गिरता हाथ से, जलता समस्त शरीर है ।  
मै रह नहीं पाता खडा, मन भ्रमित और अधीर है ॥ ३०
- केशव! सभी विपरीत लक्षण दिख रहे, मन म्लान है ।  
रण में स्वजन सब मार कर, दिखता नहीं कल्याण है ॥ ३१
- इच्छा नहीं जय राज्य की है, व्यर्थ ही सुख-भोग है ।  
गोविन्द जीवन राज्य सुख का क्या हमें उपयोग है ॥ ३२
- जिनके लिये सुख-भोग सम्पत्ति राज्य की इच्छा रही ।  
लडने खडे हैं आश तज धन और जीवन की वही ॥ ३३
- आचार्यगण, मामा, पितामह, सुत, सभी बूढे बडे ।  
साले, ससुर, स्नेही, सभी प्रिय पौत्र सम्बन्धी खडे ॥ ३४
- क्या भूमि, मधुसूदन! मिले त्रैलोक्य का यदि राज्य भी ।  
वे मारलें पर शस्त्र मैं उनपर न छोड़ूँगा कभी ॥ ३५
- इन को जनार्दन मारकर होगा हमें संताप ही ।  
हैं आततायी मारने से पर लगेगा पाप ही ॥ ३६
- माधव! उचित वध है न इनका बन्धु है अपने सभी ।  
निज बन्धुओं को मार कर क्या हम सुखी होंगे कभी ॥ ३७

मति मन्द उनकी लोभ से, दिखता न उनको आप है ।  
कुल-नाश से क्या दोष, प्रिय-जन-द्रोह से क्या पाप है ॥ ३८

कुल-नाश दोषों का जनार्दन! जब हमें सब ज्ञान है ।  
फिर क्यों न ऐसे पाप से बचना भला भगवान है ॥ ३९

कुल नष्ट होते भ्रष्ट होता कुल-सनातन-धर्म है ।  
जब धर्म जाता आ दबाता पाप और अधर्म है ॥ ४०

जब वृद्धि होती पाप की कुल की बिगडती नारियाँ ।  
हे कृष्ण! फलती फूलती तब वर्णसंकर क्या रियाँ ॥ ४१

कुलघातकी को और कुल को ये गिराते पाप में ।  
होता न तर्पण पिण्ड यों पडते पितर संताप में ॥ ४२

कुल घातकों के वर्ण-संकर कार की इस पाप से ।  
सारे सनातन, जाति कुल के धर्म मिटते आप से ॥ ४३

इस भाँति से कुल-धर्म जिनके कृष्ण होते भ्रष्ट हैं ।  
कहते सुना है वे सदा पाते नरक में कष्ट हैं ॥ ४४

हम राज्य सुख के लोभ से हा! पाप यह निश्चय किये ।  
उद्यत हुए सम्बन्धियों के प्राण लेने के लिये ॥ ४५

यह ठीक हो यदि शस्त्र ले मारें मुझे कौरव सभी ।  
निःशस्त्र हो मैं छोड दूँ करना सभी प्रति कार भी ॥ ४६

संजय ने कहा  
रणभूमि मे इस भाँति कहकर पार्थ धनु-शर छोडके ।



अति शोक से व्याकुल हुए बैठे वहीं मुख मोड के ॥ ४७

ॐ इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्री कृष्णार्जुन संवादे अर्जुनविषादयोगोनाम प्रथमोऽध्यायः ॥

दूसरा अध्याय  
सांख्य योग

संजय ने कहा

ऐसे कृपायुत अश्रुपूरित दुःख से दहते हुए ।

कौन्तेय से इस भाँति मधुसूदन वचन कहने लगे ॥ १

श्री भगवान ने कहा

अर्जुन! तुमें संकट-समय में क्यों हुआ अज्ञान है ।

यह आर्य-अनुचित और नाशक स्वर्ग, सुख, सम्मान है ॥ २

अनुचित नपुंसकता तुम्हें हे पार्थ! इसमें मत पडो ।

यह क्षुद्र कायरता परंतप! छोड कर आगे बढो । ३

अर्जुन ने कहा

किस भाँति मधुसूदन! समर में भीष्म द्रोणाचार्य पर ।

मैं बाण अरिसूदन चलाऊँ वे हमारे पूज्यवर ॥ ४

भगवन! महात्मा गुरुजनो मारना न यथेष्ट है ।

इससे जगत में माँग भिक्षा पेट-पालन श्रेष्ठ है ॥

इन गुरुजनों को मार कर, जो अर्थलोलुप हैं बने ।

उनके रुधिर से ही सने, सुख भोग होंगे भोगने ॥ ५

जीते उन्हें हम या हमें वे, यह न हमको ज्ञांत है ।

यह भी नहीं हम जानते, हितकर हमें क्या बात है ॥

जीवित न रहना चाहते हम, मार कर रण मे जिन्हें ।

धृतराष्ट्र-सुत कौरव वही, लडने खडे हैं सामने ॥ ६

कायरपने से हो गया सब नष्ट सत्य-स्वभाव है ।  
मोहित हुई मति ने भुलाया धर्म का भी भाव है ॥  
आया शरण हूँ आपकी मैं शिष्य शिक्षा दीजिये ।  
निश्चित कहो कल्याणकारी कर्म क्या मेरे लिये ॥ ७

धन-धान्य-शाली राज्य निष्कण्टक मिले संसार में ।  
स्वामिन् सारे देवताओं का मिले विस्तार में ॥  
कोई कहीं साधन मुझे फिर भी नहीं दिखता अहो ।  
जिससे कि इन्द्रिय-तापकारी शोक सारा दूर हो ॥ ८

संजय ने कहा  
इस भाँति कहकर कृष्ण से, राजन्! लडूंगा मैं नहीं ।  
ऐसे वचन कह गुडाकेश अवाच्य हो बैठे वहीं ॥ ९

उस पार्थ से, रण-भूमि में जो, दूःख से दहने लगे ।  
हँसते हुए से वृषीकेश तुरन्त यों कहने लगे ॥ १०

श्री भगवान ने कहा  
निःशोच्य का कर शोक कहता बात प्रज्ञावाद की ।  
जीते मरे का शोक ज्ञानीजन नहीं करते कभी ॥ ११

मैं और तू राजा सभी देखो कभी क्या थे नहीं ।  
यह भी असम्भव हम सभी अब फिर नहीं होंगे कहीं ॥ १२

ज्यों बालपन, यौवन जरा इस देह में आते सभी ।  
त्यो जीव पाता देह और, न धीर मोहित हों कभी ॥ १३

शीतोष्ण या सुख-दुःख-प्रद कौन्तेय इन्द्रिय-भोग हैं ।

- आते व जाते हैं सही सब नाशवत संयोग हैं ॥ १४
- नर श्रेष्ठ! वह नर श्रेष्ठ हैं इनसे व्यथा जिसको नहीं ।  
वह मोक्ष पाने योग्य है सुख दुःख जिसे समसब कहीं ॥ १५
- जो है असत् रहता नहीं, सत् का न किन्तु अभाव है ।  
लखि अन्त इनका ज्ञानियों ने यों किया ठहराव है ॥ १६
- यह याद रख अविनाशि है जिसने किया जग व्याप्त है ।  
अविनाशि का नाशक नहीं कोई कहीं पर्याप्त है ॥ १७
- इस देह में आत्मा अचिन्त्य सदैव अविनाशि अमर ।  
पर देह उसकी नष्ट होती अस्तु अर्जुन! युद्ध कर ॥ १८
- है जीव मरने मारने वाला यही जो जानते ।  
यह मारता मरता नहीं दोनों न वे जन जानते ॥ १९
- मरता न लेता जन्म, अब है, फिर यही होगा कहीं ।  
शाश्वत, पुरातन, अज, अमर, तन बध किये मरता नहीं ॥ २०
- अव्यय अजन्मा नित्य अविनाशि इसे जो जानता ।  
कैसे किसी का वध कराता और करता है बता ॥ २१
- जैसे पुराने त्याग कर नर वस्त्र नव बदलें सभी ।  
यों जीर्ण तन को त्याग नूतन देह धरता जीव भी ॥ २२
- आत्मा न कटता शस्त्र से है, आग से जलता नहीं ।  
सूखे नआत्मा वायु से, जल से कभी गलता नहीं ॥ २३
- छिदने न जलने और गलने सूखने वाला कभी ।

- यह नित्य निश्चल, थिर, सनातन और है सर्वत्र भी ॥ २४
- इन्द्रिय पहुँच से है परे, मन-चिन्तना से दूर है ।  
अविकार इसको जान दुख में व्यर्थ रहना चूर है ॥ २५
- यदि मानते हो नित्य मरता, जन्मता रहता यहीं ।  
तो भी महाबाहो! उचित ऐसी कभी चिन्ता नहीं ॥ २६
- जन्मे हुए मरते, मरे निश्चय जन्म लेते कहीं ।  
ऐसी अटल जो बात है उसकी उचित चिन्ता नहीं ॥ २७
- अव्यक्त प्राणी आदि में हैं मध्य में दिखते सभी ।  
फिर अन्त में अव्यक्त, क्या उसकी उचित चिन्ता कभी ॥ २८
- कुछ देखते आश्चर्य से, आश्चर्यवत कहते कहीं ।  
कोई सुने आश्चर्यवत, पहिचानता फिर भी नहीं ॥ २९
- सारे शरीरों में अमर आत्मा न वध होता किये ।  
फिर प्रणियों का शोक यों तुमको न करना चाहिये ॥ ३०
- फिर देख कर निज धर्म, हिम्मत हारना अप कर्म है ।  
इस धर्म-रण से बढ न क्षत्रिय का कहीं कुछ धर्म है ॥ ३१
- रण स्वर्गरूपी द्वार देखो खुल रहा है आप से ।  
यह प्राप्त होता क्षत्रियों को युद्ध भाग्य-प्रताप से ॥ ३२
- तुम धर्म के अनुकूल रण से जो हटे पीछे कभी ।  
निज धर्म खो अपकीर्ति लगे और लगे पाप भी ॥ ३३
- अपकीर्ति गायेंगे सभी फिर इस अमिट अपमान से ।

- अपकीर्ति, सम्मनित पुरुष को अधिक प्राण-पयान से ॥ ३४
- रण छोड कर डर से भगा अर्जुन कहेंगे सब यही ।  
सम्मान करते वीरवर जो तुच्छ जानेंगे वही ॥ ३५
- कहने न कहने की खरी खोटी कहेंगे रिपु सभी ।  
सामर्थ्य-निन्दा से घना दुख और क्या होगा कभी ॥ ३६
- जीते रहे तो राज्य लगे, मर गये तो स्वर्ग में ।  
इस भाँति निश्चय युद्ध का करके उठो अरिचर्ग में ॥ ३७
- जय-हार, लाभालाभ, सुख-दुख सम समझकर सब कहीं ।  
फिर युद्ध कर तुझको धनुर्धर! पाप यों होगा नहीं ॥ ३८
- है सांख्य का यह ज्ञान अब सुन योग का शुभ ज्ञान भी ।  
हो युक्त जिससे कर्म-बन्धन पार्थ छूटेंगे सभी ॥ ३९
- आरम्भ इसमें है अमिट यह विघ्न बाधा से परे ।  
इस धर्म का पालन तनिक भी सर्व संकट को हरे ॥ ४०
- इस मार्ग में नित निश्चयात्मक बुद्धि अर्जुन एक है ।  
बहु बुद्धियाँ बहु भेद-युत उनकी जिन्हें अविवेक है ॥ ४१
- जो वेदवादी, कामना प्रिय, स्वर्गइच्छुक मूढ हैं ।  
अतिरिक्त इसके कुछ नहीं बातें बढाकर यों कहें ॥ ४२
- नाना क्रिया विस्तारयुत, सुख-भोग के हित सर्वदा ।  
जिस जन्मरूपी कर्म-फल-प्रद बात को कहते सदा ॥ ४३

- उस बात से मोहित हुए जो भोग-वैभव-रत सभी ।  
व्यवसाय बुद्धि न पार्थ! उनकी हो समाधिस्थित कभी ॥ ४४
- हैं वेद त्रिगुणों के विषय, तुम गुणातीत महान हो !  
तज योग क्षेम व द्रुद्ध नित सत्त्वस्थ आत्मावान् हो ॥ ४५
- सबओर करके प्राप्त जल, जितना प्रयोजन कूप का ।  
उतना प्रयोजन वेद से, विद्वान् ब्राह्मण का सदा ॥ ४६
- अधिकार केवल कर्म करने का, नहीं फल में कभी ।  
होना न तू फल-हेतु भी; मत छोड देना कर्म भी ॥ ४७
- आसक्ति सब तज सिद्धि और असिद्धि मान समान ही ।  
योगस्थ होकर कर्म कर है योग समता-ज्ञान ही ॥ ४८
- इस बुद्धियोग महान से सब कर्म अतिशयहीन हैं ।  
इस बुद्धि की अर्जुन! शरण लो चाहते फल दीन हैं ॥ ४९
- जो बुद्धि-युत है पाप-पुण्यों में न पडता है कभी ।  
बन योगयुत, है योग ही यह कर्म में कौशल सभी ॥ ५०
- नित बुद्धि-युत हो कर्म के फल त्यागने मतिमान हैं ।  
वे जन्म-बन्धन तोड पद पाते सदैव महान हैं ॥ ५१
- इस मोह के गंदले सलिल से पार मति होगी जभी ।  
वैराग्य होगा सब विषय में जो सुना सुनना अभी ॥ ५२
- श्रुति-भ्रान्त बुद्धि समाधि में निश्चल अचल होगी जभी ।  
हे पार्थ! योग समत्व होगा प्राप्त यह तुझको तभी ॥ ५३

अर्जुन ने कहा  
केशव किसे दृढ-प्रज्ञजन अथवा समाधिस्थित कहें ।  
थिर-बुद्धि कैसे बोलते, बैठें, चलें कैसे रहें ॥ ५४

श्री भगवान ने कहा  
हे पार्थ! मन की कामना जब छोड़ता है जन सभी ।  
हो आप आपे में मगन दृढ-प्रज्ञ होता है तभी ॥ ५५

सुख में न चाह, न खेद जो दुःख में कभी अनुभव करे ।  
थिर-बुद्धि वह मुनि, राग एवं क्रोध भयसे जो परे ॥ ५६

शुभ या अशुभ जो भी मिले उसमें न हर्ष न शोक ही ।  
निःस्नेह जो सर्वत्र है, थिर-बुद्धि होता है वही ॥ ५७

हे पार्थ! ज्यों कद्रुआ समेटे अंग चारों छोर से ।  
थिर-बुद्धि जब यों इन्द्रियाँ सिमटें विषय की ओर से ॥ ५८

होते विषय सब दूर हैं आहार जब जन त्यागता ।  
रस किन्तु रहता, ब्रह्म को कर प्राप्त वह भी भागता ॥ ५९

कौन्तेय! करते यत्न इन्द्रिय-दमन हित विद्वान हैं ।  
मन किन्तु बल से खैच लेती इन्द्रियाँ बलवान हैं ॥ ६०

उन इन्द्रियों को रोक, बैठे योग युत मत्पर हुआ ।  
आधीन जिसके इन्द्रियाँ, दृढ प्रज्ञ वह नित नर हुआ ॥ ६१

चिन्तन विषय का, संग विषयों में बढ़ाता है सभी ।  
फिर संग से हो कामना, हो कामना से क्रोध भी ॥ ६२



- फिर क्रोध से है मोह, सुधि को मोह करता भ्रष्ट है ।  
यह सुधि गए फिर बुद्धि विनशे, बुद्धि-विनशे नष्ट है ॥ ६३
- पर राग-द्वेष-विहीन सारी इन्द्रियाँ आधीन कर ।  
फिर भोग करके भी विषय, रहता सदैव प्रसन्न नर ॥ ६४
- पाकर प्रसाद पवित्र जन के दुःख कट जाते सभी ।  
जभ चित्त नित्य प्रसन्न रहता, बुद्धि दृढ होती तभी ॥ ६५
- रहकर अयुक्त न बुद्धि उत्तम भावना होती कहीं ।  
बिन भावना नहि शान्ति और अशान्ति में सुख है नहीं ॥ ६६
- सब विषय विचरित इन्द्रियों में, साथ मन जिसके रहे ।  
वह बुद्धि हर लेती, पवन से नाव ज्यों जल में बहे ॥ ६७
- चहुँ ओर से इन्द्रिय-विषय से इन्द्रियाँ जब दूर ही ।  
रहती हटीं जिसकी सदा, दृढ-प्रज्ञ होता है वही ॥ ६८
- सबकी निशा तब जागता, योगी पुरुष हे तात! है ।  
जिसमें सभी जन जागते, ज्ञानी पुरुष की रात है ॥ ६९
- सब ओर से परिपूर्ण जलनिधि में सलिल जैसे सदा ।  
आकर समाता, किन्तु अविचल सिन्धु रहता सर्वदा ॥  
इस भाँति ही जिसमे विषय जाकर समा जाते सभी ।  
वह शांति पाता है, न पाता काम-कामी जन कभी ॥ ७०
- सब त्याग इच्छा कामना, जो जन विचरता नित्य है ।  
मद और ममता हीन होकर, शांति पाता है वही ॥ ७१

यह पार्थ! ब्रह्मीस्तिति इये पा नर न मोहित हो कभी ।  
निर्वाण पद हो प्राप्त इसमें ठैर अन्तिम काल भी ॥ ७२

ॐ इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्री कृष्णार्जुन संवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥

## तीसरा अध्याय कर्म योग

- अर्जुन ने कहा  
यदि हे जनार्दन! कर्म से तुम बुद्धि कहते श्रेष्ठ हो ।  
तो फिर भयंकर कर्म में मुझको लगाते क्यों कहो ॥ १
- उलझन भरे कह वाक्य, भ्रम-सा डालते भगवान हो ।  
वह बात निश्चय कर कहो जिसमें मुझे कल्याण हो ॥ २
- श्री भगवान ने कहा  
पहले कही दो भाँति निष्ठा, ज्ञानियों की ज्ञान से ।  
फिर योगियों की योग-निष्ठा, कर्मयोग विधान से ॥ ३
- आरम्भ बिन ही कर्म के निष्कर्म हो जाते नहीं ।  
सब कर्म ही के त्याग से भी सिद्धि जन पाते नहीं ॥ ४
- बिन कर्म रह पाता नहीं कोई पुरुष पल भर कभी ।  
हो प्रकृति-गुण आधीन करने कर्म पडते हैं सभी ॥ ५
- कर्मेन्द्रियों को रोक जो मन से विषय-चिन्तन करे ।  
वह मूढ पाखण्डी कहाता दम्भ निज मन में भरे ॥ ६
- जो रोक मन से इन्द्रियाँ आसक्ति बिन हो नित्य ही ।  
कर्मेन्द्रियों से कर्म करता श्रेष्ठ जन अर्जुन! वही ॥ ७
- बिन कर्म से नित श्रेष्ठ नियमित-कर्म करना धर्म है ।  
बिन कर्म के तन भी न सधता कर नियत जो कर्म है ॥ ८

- तज यज्ञ के शुभ कर्म, सारे कर्म बन्धन पार्थ! हैं ।  
अतएव तज आसक्ति सब कर कर्म जो यज्ञार्थ है ॥ ९
- विधि ने प्रजा के साथ पहिले यज्ञ को रच के कहा ।  
पूरे करे यह सब मनोरथ, वृद्धि हो इससे महा ॥ १०
- मख से करो तुम तुष्ट सुरगण, वे करें तुमको सदा ।  
ऐसे परस्पर तुष्ट हो, कल्याण पाओ सर्वदा ॥ ११
- मख-तृप्त हो सुर कामना पूरी करेंगे नित्य ही ।  
उनका दिया उनको न दे, जो भोगता तस्कर वही ॥ १२
- जो यज्ञ में दे भाग खाते पाप से छुट कर तरें ।  
तन हेतु जो पापी पकाते पाप भक्षण वे करें ॥ १३
- सम्पूर्ण प्राणी अन्न से हैं, अन्न होता वृष्टि से ।  
यह वृष्टि होती कर्म से, जो कर्म की शुभ सृष्टि से ॥ १४
- फिर कर्म होते ब्रह्म से हैं, ब्रह्म अक्षर से कहा ।  
यों यज्ञ में सर्वत्र-व्यापी, ब्रह्म नित ही रम रहा ॥ १५
- चलता न जो इस भाँति चलते चक्र के अनुसार हैं ।  
पापायु इन्द्रियलम्पटी वह व्यर्थ ही भू-भार है ॥ १६
- जो आत्मरत रहता निरन्तर, आत्म तृप्त विशेष है ।  
संतुष्ट आत्मा में, उसे करना नहीं कुछ शेष है ॥ १७
- उसको न कोई लाभ है करने न करने से कहीं ।  
हे पार्थ! प्राणीमात्र से उसको प्रयोजन है नहीं ॥ १८

अतएव तज आसक्ति, कर कर्तव्य कर्म सदैव ही । यों कर्म जो करता परम पद प्राप्त करता है वही ॥	१९
जनकादि ने भी सिद्धि पाई कर्म ऐसे ही किये । फिर लोकसंग्रह देख कर भी कर्म करना चाहिये ॥	२०
जो कार्य करता श्रेष्ठ जन करते वही है और भी । उनके प्रमाणित-पंथ पर ही पैर धरते हैं सभी ॥	२१
अप्राप्त मुझको कुछ नहीं, जो प्राप्त करना हो अभी । त्रैलोक्य में करना न कुछ, पर कर्म करता मैं सभी ॥	२२
आलस्य तजके पार्थ!मैं यदि कर्म में वरतूँ नहीं । सब भाँति मेरा अनुकरण ही नर करेंगे सब कहीं ॥	२३
यदि छोड़दूँ मैं कर्म करना, लोक सारा भ्रष्ट हो । मैं सर्व संकर का बनूँ कर्ता, सभी जग नष्ट हो ॥	२४
ज्यों मूढ मानव कर्म करते नित्य कर्मासक्त हो । यो लोकसंग्रह-हेतु करता कर्म, विज्ञ विरक्त हो ॥	२५
ज्ञानी न डाले भेद कर्मासक्त की मति मे कभी । वह योग-युत हो कर्म कर, उनसे कराये फिर सभी ॥	२६
होते प्रकृति के ही गुणों से सर्व कर्म विधान से । मैं कर्म करता, मूढ-मानव मानता अभिमान से ॥	२७
गुण और कर्म विभाग के सब तत्त्व जो जन जानता । होता न वह आसक्त गुण का खेल गुण मे मानता ॥	२८

- गुण कर्म में आसक्त होते प्रकृतिगुण मोहित सभी ।  
उन मंद मूढ़ों को करे विचलित न ज्ञानी जन कभी ॥ २९
- अध्यात्म-मति से कर्म अर्पण कर मुझे आगे बढो ।  
फल-आश ममता छोडकर निश्चिन्त होकर फिर लडो ॥ ३०
- जो दोष-बुद्धि विहीन मानव नित्य श्रद्धायुक्त है ।  
मेरे सुमत अनुसार करके कर्म वे नर मुक्त हैं ॥ ३१
- जो दोष-दर्शी मूढमति मत मानते मेरा नहीं ।  
वे सर्वज्ञान-विमूढ नर नित नष्ट जानों सब कहीं । ३२
- वर्ते सदा अपनी प्रकृति अनुसार ज्ञान-निधान भी ।  
निग्रह करेगा क्या, प्रकृति अनुसार हैं प्राणी सभी ॥ ३३
- अपने विषय मे इन्द्रियों को राग भी है द्वेष भी ।  
ये शत्रु हैं, वश मे न इन के चाहिये आना कभी ॥ ३४
- ऊँचे सुलभ पर-धर्म से निज विगुण धर्म महान् है ।  
परधर्म भयप्रद, मृत्यु भी निज धर्म में कल्याण है ॥ ३५
- अर्जुन ने कहा  
भगवन्! कहो करना नहीं नर चाहता जब आप है ।  
फिर कौन बल से खींच कर उससे कराता पाप है । ३६
- श्री भगवान ने कहा  
पैदा रजोगुण से हुआ यह काम ही यहा क्रोध ही ।  
पेटू महापापी कराता पाप है बैरी यही ॥ ३७

ज्यों गर्भ झिल्ली से, धुएँ से आग, शीशा धूल से ।  
यों काम से रहता ढका है, ज्ञान भी (आमूल) से ॥ ३८

यह काम शत्रु महान्, नित्य अतृप्त अग्नि समान है ।  
इससे ढका कौन्तेय! सारे ज्ञानियों का ज्ञान है ॥ ३९

मन, इन्द्रियों मे, बुद्धि में यह वास बैरी नित करे ।  
इनके सहारे ज्ञान ढक, जीवात्म को मोहित करे ॥ ४०

इन्द्रिय-दमन करके करो फिर नाश शत्रु महान् का ।  
पापी सदा यह नाशकारी ज्ञान का विज्ञान का ॥ ४१

हैं श्रेष्ठ इन्द्रिय, इन्द्रियों से पार्थ मनमानो परे ।  
मन से परे फिर बुद्धि, आत्मा बुद्धि से जानो परे ॥ ४२

यों बुद्धि से आत्मा परे है जान इसके ज्ञान को ।  
मन वश्य करके जीत दुर्जय काम शत्रु महान को ॥ ४३

ॐ इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्री कृष्णार्जुन संवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

चौथा अध्याय  
ज्ञानकर्म-संन्यास योग

- श्री भगवान ने कहा  
मैं ने कहा था सूर्य के प्रति योग यह अव्यय महा ।  
फिर सूर्य ने मनु से कहा, इक्ष्वाकु से मनु ने कहा ॥ १
- यों राज-ऋषि परिचित हुए सुपरम्परागत योग से ।  
इस लोक में वह मिट गया बहु काल संयोग से ॥ २
- मैंने समझकर यह पुरातन योग-श्रेष्ठ रहस्य है ।  
तुझ से कहा सब क्यों कि तू मम भक्त और वयस्य है ॥ ३
- अर्जुन ने कहा  
पैदा हुए थे सूर्य पहले आप जन्मे हैं अभी ।  
मौ मानलूं कैसे कहा यह आपने उनसे कभी ॥ ४
- श्री भगवान ने कहा  
मैं और तू अर्जुन! अनेकों बार जन्मे हैं कहीं ।  
सब जानता हूँ मैं परन्तप! ज्ञान तुझको है नहीं । ५
- यद्यपि अजन्मा, प्राणियों का ईश मैं अव्यय परम् ।  
पर निज प्रकृति आधीन कर, लूँ जन्म माया से स्वयम् ॥ ६
- हे पार्थ! जब जब धर्म घटता और बढता पाप ही ।  
तब तब प्रकट मैं रूप अपना नित्य करता आप ही ॥ ७
- सज्जन जनों का त्राण करने दुष्ट-जन-संहार-हित ।



- युग-युग प्रकट होता स्वयं मैं, धर्म के उद्धार हित ॥ ८
- जो दिव्य मेरा जन्म कर्म रहस्य से सब जान ले ।  
मुझमें मिले तन त्याग अर्जुन! फिर न वह जन जन्म ले । ९
- मन्मथ ममाश्रित जन हुए भय क्रोध राग-विहीन हैं ।  
तप यज्ञ से हो शुद्ध बहु मेझमें हुए लवलीन हैं ॥ १०
- जिस भाँति जो भजते मुझे उस भाँति दूँ फल भोग भी ।  
सब ओर से ही वर्तते मम मार्ग में मानव सभी ॥ ११
- इस लोक में करते फलेच्छुक देवता-आराधना ।  
तत्काल होती पूर्ण उनकी कर्म फल की साधना ॥ १२
- मैंने बनाये कर्म गुण के भेद से चहुँ वर्ण भी ।  
कर्ता उन्हीं का जान तू, अव्यय अकर्ता मैं सभी ॥ १३
- फल की न मुझको चाह बँधता मैं न कर्मों से कहीं ।  
यों जानता है जो मुझे वह कर्म से बँधता नहीं ॥ १४
- यह जान कर्म मुमुक्षु पुरुषों ने सदा पहले किये ।  
प्राचीन पूर्वज-कृत करो अब कर्म तुम इस ही लिये ॥ १५
- क्या कर्म और अकर्म है भूले इसे विद्वान् भी ।  
जो जान पापों से छुटो, वह कर्म कहता हूँ सभी ॥ १६
- हे पार्थ! कर्म अकर्म और विकर्म का क्या ज्ञान है ।  
यह जान लो सब, कर्म की गति गहन और महान् है ॥ १७
- जो कर्म में देखे अकर्म, अकर्म में भी कर्म ही ।

- है योग-युत ज्ञानी वही, सब कर्म करता है वही ॥ १८
- ज्ञानी उसे पण्डित कहें उद्योग जिसके हों सभी ।  
फल वासना बिन, भस्म हों ज्ञानाग्नि में सब कर्म भी ॥ १९
- जो है निराश्रय तृप्त नित, फल कामनाएँ तज सभी ।  
वह कर्म सब करता हुआ, कुछ भी नहीं करता कभी ॥ २०
- जो कमाना तज, सर्व संग्रह त्याग, मन वश में करे ।  
केवल करे जो कर्म दैहिक, पाप से है वह परे ॥ २१
- बिन द्वेष द्वन्द्व असिद्धि सिद्धि समान है जिसको सभी ।  
जो है यदृच्छा-लाभ-तृप्त न बढ़ वह कर कर्म भी ॥ २२
- चित ज्ञान में जिसका सदा जो मुक्त संग-विहीन हों ।  
यज्ञार्थ करते कर्म उनके सर्व कर्म विलीन हों ॥ २३
- मख ब्रह्म से, ब्रह्माग्नि में, हवि ब्रह्म, अर्पण ब्रह्म है ।  
सब कर्म जिसको ब्रह्म, करता प्राप्त वह जन ब्रह्म है ॥ २४
- योगी पुरुष कुछ दैव-यज्ञ उपासना में मन धरें ।  
ब्रह्माग्नि में कुछ यज्ञ द्वारा यज्ञ ज्ञानी जन करें ॥ २५
- कुछ होमते श्रोत्रादि इन्द्रिय संयमों की आग में ।  
इन्द्रिय-अनल में कुछ विषय शब्दादि आहुति दे रमें ॥ २६
- कर आत्म-संयमरूप योगानल प्रदीप्त सुज्ञान से ।  
कुछ प्राण एवं इन्द्रियों के कर्म होमें ध्यान से ॥ २७
- कुछ संयमी जन यज्ञ करते योग, तप से, दान से ।

स्वाध्याय से करते यती, कुछ यज्ञ करते ज्ञान से ॥ २८

कुछ प्राण में होमे अपान व प्राणवायु अपान में ।  
कुछ रोक प्राण अपान प्राणायाम ही के ध्यान में ॥ २९

कुछ मिताहारी हवन करते, प्राण ही में प्राण है ।  
क्षय पाप यज्ञों से किये, वे यज्ञ-विज्ञ महान है ॥  
जो यज्ञ का अवशेष खाते, ब्रह्म को पाते सभी ।  
परलोक तो क्या, यज्ञ-त्यागी को नहीं यह लो क भी ॥ ३०

बहु भाँति से यों ब्रह्म-मुख में यज्ञ का विस्तार है ।  
होते सभी हैं कर्म से, यह जान कर निस्तार है ॥ ३१

धन-यज्ञ से समझो सदा ही ज्ञान-यज्ञ प्रधान है ।  
सब कर्म का नित ज्ञान मे ही पार्थ! पर्यवसान है ॥ ३२

सेवा विनय प्रणिपात पूर्वक प्रश्न पूछो ध्यान से ।  
उपदेश देंगे ज्ञान का तब तत्त्व-दर्शी ज्ञान से ॥ ३३

होगा नहीं फिर मोह ऐसे श्रेष्ठ शुद्ध विवेक से ।  
तब ही दिखेंगे जीव मुझमें और तुझ में एक से ॥ ३४

तेरा कहीं यदि पापियों से घोर पापाचार हो ।  
इस ज्ञान-नय्या से सहज में पाप-सागर पार हो ॥ ३५

ज्यों पार्थ! पावक प्रज्वलित इधन जलाती है सदा ।  
ज्ञानाग्नि सारे कर्म करती भस्म यों ही सर्वदा ॥ ३६

इस लोक मे साधन पवित्र न और ज्ञान समान है ।

योगी पुरुष पाकर समय पाता स्वयं ही ज्ञान है ॥ ३७

जो कर्म-तत्पर है जितेन्द्रिय और श्रद्धावान् है ।  
वह प्राप्त करके ज्ञान पाता शीघ्र शान्ति महान् है ॥ ३८

जिसमें न श्रद्धा ज्ञान, संशयवान् डूबें सब कहीं ।  
उसके लिये सुख, लोक या परलोक कुछ भी हैं नहीं ॥ ३९

तज योग-बल से कर्म, काटे ज्ञान से संशय सभी ।  
उस आत्मज्ञानी को न बांधे कर्म बन्धन में कभी ॥  
अज्ञान से जो भ्रम हृदय में, काट ज्ञान कृपान से ।  
अर्जुन खडा हो युद्ध कर, हो योग आश्रित ज्ञान से । ४०

ॐ इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्री कृष्णार्जुन संवादे ज्ञानकर्म संन्यास योगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

## पांचवां अध्याय कर्मसंन्यास योग

अर्जुन ने कहा

कहते कभी हो योग को उत्तम कभी संन्यास को ।  
हे कृष्ण! निश्चय कर कहो वह एक जिससे श्रेय हो ॥ १

श्री भगवान ने कहा

संन्यास एवं योग दोनों मोक्षकारी हैं महा ।  
संन्यास पर कर्मयोग महान् हितकारी कहा ॥ २

है नित्य संन्यासी न जिसमें द्वेष या इच्छा रही ।  
तज द्रुद्ध सुख से सर्व बन्धन-मुक्त होता है वही ॥ ३

है सांख्य योग विभिन्न कहते मूढ, नहीं पण्डित कहें ।  
पाते उभय फल एक के जो पूर्ण साधन में रहें ॥ ४

पाते सुगति जो सांख्य-ज्ञानी कर्म-योगी भी वही ।  
जो सांख्य, योग समान जाने तत्त्व पहिचाने सही ॥ ५

निष्काम-कर्म-विहीन हो, पाना कठिन संन्यास है ।  
मुनि कर्मयोगी शीघ्र करता ब्रह्म ही में वास है ॥ ६

जो योगयुत है, शुद्ध मन, निज आत्मयुत देखें सभी ।  
वह आत्म-इन्द्रिय जीत जन, नहीं लिप्त करके कर्म भी ॥ ७

तत्त्वज्ञ समझे युक्त मैं करता न कुछ खाता हुआ ।  
पाता निरखता सूँघता सुनता हुआ जाता हुआ ॥ ८

- छुते व सोते साँस लेते छोडते या बोलते ।  
वर्ते विषय में इन्द्रियाँ दृग बन्द करते खोलते ॥ ९
- आसक्ति तज जो ब्रह्म-अर्पण कर्म करता आप है ।  
जैसे क मल को जल नहीं लगता उसे यों पाप है ॥ १०
- मन, बुद्धि, तन से और केवल इन्द्रियों से भी क भी ।  
तज संग, योगी कर्म करते आत्म-शोधन-हित सभी ॥ ११
- फल से सदैव विरक्त हो चिर-शान्ति पाता युक्त है ।  
फल-कामना में सक्त हो बँधता सदैव अयुक्त है ॥ १२
- सब कर्म तज मन से जितेन्द्रिय जीवधारी मोद से ।  
बिन कुछ कराये या किये नव-द्वार-पुर में नित बसे ॥ १३
- कर्तुत्व कर्म न, कर्म-फल-संयोग जगदीश्वर कभी ।  
रचता नहीं अर्जुन! सदैव स्वभाव करता है सभी ॥ १४
- ईश्वर न लेता है किसी का पुण्य अथवा पाप ही ।  
है ज्ञान माया से ढका यों जीव मोहित आप ही ॥ १५
- पर दूर होता ज्ञान से जिनका-हृदय अज्ञान है ।  
करता प्रकाशित तत्त्व उनका ज्ञान सूर्य समान है ॥ १६
- तन्निष्ठ तत्पर जो उसी में, बुद्धि मन धरते वहीं ।  
वे ज्ञान से निष्पाप होकर जन्म फिर लेते नहीं ॥ १७
- विद्या-विनय-युत-द्विज, श्वपच, चाहे गरु, गज, श्वान है ।  
सबके विषय में ज्ञानियों की दृष्टि एक समान है ॥ १८

- जो जन रखें मन साम्य में वे जीत लेते जग यहीं ।  
पर ब्रह्म सम निर्दाश है, यों ब्रह्म में वे सब कहीं ॥ १९
- प्रिय वस्तु पा न प्रसन्न, अप्रिय पा न जो सुख-हीन है ।  
निर्माह दृढ-मति ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में लवलीन है ॥ २०
- नहिं भोग-विषयायुक्त जो जन आत्म-सुख पाता वही ।  
वह ब्रह्मयुत, अनुभव करे अक्षय महा सुख नित्य ही ॥ २१
- जो बाहरी संयोग से हैं भोग दुख कारण सभी ।  
है आदि उनका अन्त, उनमें विज्ञ नहिं रमते कभी ॥ १२
- जो काम-क्रोधावेग सहता है मरण पर्यन्त ही ।  
संसार में योगी वही नर सुख सदा पाता वही ॥ १३
- जो आत्मरत अन्तः सुखी है ज्योति जिसमें व्याप्त है ।  
वह युक्त ब्रह्म-स्वरूप हो निर्वाण करता प्राप्त है ॥ १४
- निष्पाप जो कर आत्म-संयम दृढ बुद्धि-विहीन है ।  
रत जीवहित में, ब्रह्म में होते वही जन लीन है ॥ १५
- यति काम क्रोध विहीन जिनमें आत्म-ज्ञान प्रधान है ।  
जीता जिन्होंने मन उन्हें सब ओर ही निर्वाण है ॥ १६
- धर दृष्टि भृकृति मध्य मं तज बाह्य विषयों को सभी ।  
नित नासिकाचारी किये सम प्राण और अपान भी ॥ १७
- वश में करे मन बुद्धि इन्द्रिय मोक्ष में जो युक्त है ।  
भय क्रोध इच्छा त्याग कर वह मुनि सदा ही मुक्त है ॥ १८

जाने मुझे तप यज्ञ भोक्ता लोक स्वामी नित्य ही ।  
सब प्राणियों का मित्र जाने शांति पाता है वही ॥

१९

ॐ इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्री कृष्णार्जुन संवादे संन्यास योगोनाम पञ्चमोऽध्यायः ॥



## छटा अध्याय आत्मसंयम योग

श्री भगवान ने कहा

फल आश तज, कर्त्तव्य कर्म सदैव जो करता, वही  
येगी व संन्यासी, न जो बिन अग्नि या बिन कर्म ही ॥ १

वह योग ही समझो जिसे संन्यास कहते हैं सभी ।  
संकल्प के संन्यास बिन बनता नहीं योगी कभी ॥ २

जो योग-साधन चाहता मुनि, हेतु उसका कर्म है ।  
हो योग में आरूढ, उसका हेतु उपशम धर्म है ॥ ३

जब दूर विषयों से, न हो आसक्त कर्मों में कभी ।  
संकल्प त्यागे सर्व, योगारूढ कहलाता तभी ॥ ४

उद्धार अपना आप कर, निज को न गिरने दे कभी ।  
नर आप ही है शत्रु अपना, आप ही है मित्र भी ॥ ५

जो जीत लेता आपको वह बन्धु अपना आप ही ।  
जाना न अपने को स्वयं रिपु सी करे रिपुता वही ॥ ६

अति शान्त जन, मन जीत का आत्मा सदैव समान है ।  
सुख-दुःख, शीतल-ऊष्ण अथवा मान या अपमान है ॥ ७

कूटस्थ इन्द्रिय जीत जिसमें ज्ञान है विज्ञान है ।  
वह युक्त जिसको स्वर्ण, पत्थर, धूल एक समान है ॥ ८

वैरी, सुहृद, मध्यस्थ, साधु, असाधु, जिनसे द्वेष है ।

- बान्धव, उदासी, मित्र में सम बुद्धि पुरुष विशेष है ॥ ९
- चित्त-आत्म-संयम नित्य एकाकी करे एकान्त में ।  
तज आश-संग्रह नित निरन्तर योग में योगी रमें ॥ १०
- आसन धरे शुचि-भूमि पर थिर, ऊँच नीच न ठौर हो ।  
कुश पर बिछा मृगच्छाल, उस पर वस्त्र पावन और हो ॥ ११
- एकाग्र कर मन, रोक इन्द्रिय चित्त के व्यापार को ।  
फिर आत्म-शोधन हेतु बैठे नित्य योगाचार को । १२
- होकर अचल, दृढ, शीश ग्रीवा और काया सम करे ।  
दिशि अन्य अवलोके नहीं नासग्र पर ही दृग धरे ॥ १३
- बन ब्रह्मचारी शान्त, मन-संयम करे भय मुक्त हो ।  
हो मत्परायण चित्त मुझमें ही लगाकर युक्त हो ॥ १४
- यों जो नियत-चित्त युक्त योगाभ्यास में रत नित्य ही ।  
मुझमें टिकी निर्वाण परमा शान्ति पाता है वही ॥ १५
- यह योग अति खाकर न सधता है न अति उपवास से ।  
सधता न अतशय नींद अथवा जागराण के त्रास से ॥ १६
- जब युक्त सोना जागना आहार और विहार हों ।  
हो दुःख-हारी योग जब परिमित सभी व्यवहार हों । १७
- संयत हुआ चित्त आत्मा ही में नित्य रम रहता जभी ।  
रहती न कोई कामना नर युक्त कहलाता तभी ॥ १८
- अविचल रहे बिन वायु दीपक-ज्योति जैसे नित्य ही ।

- है चित्त संयत योग-साधक युक्त की उपमाा वही ॥ १९
- रमता जहाँ चित्त योग-सेवन से निरुद्धसदैव है ।  
जब देख अपने आपको सन्तुष्ट आत्मा में रहे ॥ २०
- इन्द्रिय-अगोचर बुद्धि-गम्य अनन्त सुख अनुभव करे ।  
जिसमे रमा योगी न डिगता तत्त्व से तिल भर परे ॥ २१
- न पाकर जिसे जग मे न उत्तम लाभ दिखता है कहीं ।  
जिसमे जमे जन को कठिन दुख भी डिगा पाता नहीं । २२
- कहते उसे ही योग जिसमें सर्व दुःख-वियोग है ।  
दृढ-चित्त होकर साधने के योग्य ही यह योग है ॥ २३
- संकल्प से उत्पन्न सारी कामनाएँ छोड के ।  
मनसे सदा सब ओर से ही इन्द्रियों को मोड के ॥ २४
- हो शान्त क्रमशः धीर मति से आत्म-सुस्थिर मन करे ।  
कोई विषय का फिर न किंचित् चित्त में चिन्तन करे ॥ २५
- यह मन चपल अस्थिर जहाँ से भाग कर जाये परे ।  
रोके वहीं से और फिर आधीन आत्मा के करे ॥ २६
- जो ब्रह्मभूत, प्रशान्त-मन, जन रज रहित निष्पाप है ।  
उस कर्मयोगी को परम सुख प्राप्त होता आप है ॥ २७
- निष्पाप हो इस भाँति जो करता निरन्तर योग है ।  
वह ब्रह्म-प्राप्ति-स्वरूप-सुख करता सदा उपभोग है ॥ २८
- युक्तात्म समदर्शी पुरुष सर्वत्र ही देखे सदा ।

मैं प्राणियों में और प्राणिमात्र मुझमें सर्वदा ॥ २९

जो देखता मुझमें सभी को और मुझको सब कहीं।  
मैं दूर उस नर से नहीं वह दूर मुझसे है नहीं ॥ ३०

एकत्व-मति से जान जीवों में मुझे नर नित्य ही ।  
भजता रहे जो, सर्वथा कर कर्म मुझमे है वही ॥ ३१

सुख-दुःख अपना और औरों का समस्त समान है ।  
जो जानता अर्जुन! वही योगी सदैव प्रधान है ॥ ३२

अर्जुन ने कहा  
जो साम्य मति से प्राप्य तुमने योग मधुसूदन! कहा ।  
मन की चपलता से महा अस्थिर मुझे वह दिख रहा ॥ ३३

हे कृष्ण! मन चञ्चल हठी बलवान् है दृढ है घना ।  
मन साधना दुष्कर दिखे जैसे हवा का बाँधना ॥ ३४

श्री भगवान ने कहा  
चञ्चल असंशय मन महाबाहो! कठिन साधन घना ।  
अभ्यास और विराग से पर पार्थ! होती साधना ॥ ३५

जीता न जो मन, योग है दुष्प्राप्य मत मेरा यही ।  
मन जीत कर जो यत्न करता प्राप्त करता है वही ॥ ३६

अर्जुन ने कहा  
जो योग-विचलित यत्नहीन परन्तु श्रद्धावान हो ।  
वह योग-सिद्धि न प्राप्त कर, गति कौनसी पाता कहो ॥ ३७

मोहित निराश्रय ब्रह्म-पथ में हो उभय पथ-भ्रष्ट क्या । वह बादलों-सा छिन्न हो, होता सदैव विनष्ट क्या ?	३८
हे कृष्ण करुणा कर सकल सन्देह मेरा मेटिये । तज कर तुम्हें है कौन यह भ्रम दूर करने के लिये ?	३९
श्री भगवान ने कहा इस लोक में परलोक में वह नष्ट होता है नहीं । कल्याणकारी-कर्म करने में नहीं दुर्गति कहीं ॥	४०
शुभ लोक पाकर पुण्यवानों का, रहे वर्षों वहीं । फिर योग विचलित जन्मता श्रीमान् शुचि के घर कहीं ।	४१
या जन्म लेता श्रेष्ठ ज्ञानी योगियों के वंश में । दुर्लभ सदा संसार में है जन्म ऐसे अंश में ॥	४२
पाता वहाँ फिर पूर्व-मति-संयोग वह नर रत्न है । उस बुद्धि से फिर सिद्धि के करता सदैव प्रयत्न है ॥	४३
हे पार्थ पूर्वाभ्यास से खिंचता उधर लाचार हो । हो योग-इच्छुक वेद-वर्णित कर्म-फल से पार हो ॥	४४
अति यत्न से वह योगसेवी सर्वपाप-विहीन हो । बहु जन्म पीछे सिद्ध होकर परम गति में लीन हो ॥	४५
सारे तपस्वी ज्ञानियों से कर्मनिष्ठों से सदा । है श्रेष्ठ योगी पार्थ ! हो इस हेतु योगी सर्वदा ॥	४६
सब योगियों में मानता मैं युक्ततम योगी वही ।	

श्रद्धा सहित मम ध्यान धर भजता मुझे जो नित्य ही ॥ ४७

ॐ इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्री कृष्णार्जुन संवादे ध्यानयोगोनाम षष्ठोऽध्यायः ॥

## सातवां अध्याय ज्ञान विज्ञान योग

श्री भगवान ने कहा

मुझमें लगा कर चित्त मेरे आसरे कर योग भी ।  
जैसा असंशय पूर्ण जानेगा मुझे वह सुन सभी ॥ १

विज्ञान-युत वह ज्ञान कहता हूँ सभी विस्तार में ।  
जो जान कर कुछ जानना रहता नहीं संसार में ॥ २

कोई सहस्रों मानवों में सिद्धि करना ठानता ।  
उन यत्नशीलों में मुझे कोई यथावत जानता ॥ ३

पृथ्वी, पवन, जल, तेज, नभ, मन, अहंकार व बुद्धि भी ।  
इन आठ भागों में विभाजित है प्रकृति मेरी सभी ॥ ४

हे पार्थ! वह अपरा प्रकृति का जान लो विस्तार है ।  
फिर है परा यह जीव जो संसार का आधार है ॥ ५

उत्पन्न दोनों से इन्ही से जीव है जग के सभी ।  
मैं मूल सब संसार का हूँ और मैं ही अन्त भी ॥ ६

मुझसे परे कुछ भी नहीं संसार का विस्तार है ।  
जिस भाँति माला में मणि, मुझमें गुथा संसार है ॥ ७

आकाश में ध्वनि, नीर में रस, वेद में ॐ कार हूँ ।  
पौरुष पुरुष में, चाँद सूरज में प्रभामय सार हूँ ॥ ८

शुभ गन्ध वसुधा में सदा मैं प्रणियों में प्राण हूँ ।

- मै अग्नि में हूँ तेज, तपियों में तपस्या यान हूँ ॥ ९
- हे पार्थ! जीवों का सनातन बीज हूँ, आधार हूँ ।  
तेजस्वियों में तेज, बुध में बुद्धि का भण्डार हूँ ॥ १०
- हे पार्थ! मैं कामादि राग विहीन बल बलवान का ।  
मैं काम भी हूँ धर्म के अचिरुद्ध विद्यावान का ॥ ११
- सत और रज, तम भाव मुझसे ही हुए हैं ये सभी ।  
मुझ में सभी ये किन्तु मैं उन्में नहीं रहता कभी ॥ १२
- इन त्रिगुण भावों में सभी भूला हुआ संसार है ।  
जाने न अव्यय-तत्त्व मेरा जो गुणों से पार है ॥ १३
- यह त्रिगुणदैवी घोर माया अगम और अपार है ।  
आता शरण मेरी वही जाता सहज में पार है ॥ १४
- पापी, नराधम, ज्ञान माया ने हरा जिनका सभी ।  
वे मूढ आसुर बुद्धि-वश मुझको नहीं भजते कभी ॥ १५
- अर्जुन! मुझे भजता सुकृति-समुदाय चार प्रकार का ।  
जिज्ञासु, ज्ञानीजन, दुखी-मन, अर्थ-प्रिय संसार का ॥ १६
- नित-युक्त ज्ञानी श्रेष्ठ, जो मुझमें अनन्यासक्त है ।  
मैं क्योंकि ज्ञानी को परम प्रिय, प्रिय मुझे वह भक्त है ॥ १७
- ये सब उदार, परन्तु मेरा प्राण ज्ञानी भक्त है ।  
वह युक्त जन, सर्वोच्च-गति मुझमें सदा अनुरक्त है ॥ १८



- जन्मान्तरों में जानकर, 'सब वासुदेव यथार्थ है' ।  
ज्ञानी मुझे भजता, सुदुर्लभ वह महात्मा पार्थ! है ॥ १९
- निज प्रकृति-प्रेरित, कामना द्वारा हुए हत ज्ञान से ।  
कर नियम भजते विविध विध नर अन्य देव विधान से ॥ २०
- जो जो कि जिस जिस रूप की पूजा करे नर नित्य ही ।  
उस भक्त की करता उसी में, मैं अचल श्रद्धा वही ॥ २१
- उस देवता को पूजता फिर वह, वही श्रद्धा लिये ।  
निज इष्ट-फल पाता सकल, निर्माण जो मैं ने किये ॥ २२
- ये मन्दमति नर किन्तु पाते, अन्तवत फल सर्वादा ।  
सुर-भक्त सुर में, भक्त मेरे, आ मिलें मुझ में सदा ॥ २३
- अव्यक्त मुझको व्यक्त, मानव मूढ लेते मान हैं ।  
अविनाशि अनुपम भाव मेरा वे न पाते जान हैं ॥ २४
- निज योगमाया से ढका सबको न मैं दिखता कहीं ।  
अव्यय अजन्मा मैं, मुझे पर मूढ नर जाने नहीं ॥ २५
- होंगे, हुए हैं, जीव जो मुझको सभी का ज्ञान है ।  
इनको किसी को किन्तु कुछ मेरी नहीं पहिचान है ॥ २६
- उत्पन्न इच्छा द्वेष से जो द्वन्द्व जग में व्याप्त है ।  
उनसे परंतप! सर्व प्राणी मोह करते प्राप्त हैं ॥ २७
- पर पुण्यवान् मनुष्य जिनके छुट गये सब पाप हैं ।  
दृढ द्वन्द्व-मोह-विहीन हो भजते मुझे वे आप हैं ॥ २८

करते ममाश्रित जो जरा-मृति-मोक्ष के हित साधना ।  
वे जानते हैं ब्रह्म, सब अध्यात्म, कर्म महामना ॥ २९

अधि-भूत, दैव व यज्ञ-युत, जो विज्ञ मुझको जानते ।  
वे युक्त-चित मरते समय में भी मुझे पहिचानते ॥ ३०

ॐ इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्री कृष्णार्जुन संवादे ज्ञानविज्ञान योगोनाम साप्तमोऽध्यायः ॥

## आठवां अध्याय अक्षर ब्रह्म योग

अर्जुन ने कहा

हे कृष्ण! क्या वह ब्रह्म? क्या अध्यात्म? क्या कर्म है ?  
अधिभूत कहते हैं किसे? अधिदैव का क्या मर्म है ? १

इस देह में अधियज्ञ कैसे और किसको मानते ?  
मरते समय कैसे जितेन्द्रिय जन तुम्हें पहिचानते ? २

श्री भगवान ने कहा

अक्षर परम वह ब्रह्म है, अध्यात्म जीव स्वभाव ही ।  
जो भूत भावोद्भव करे व्यापार कर्म कहा वही ॥ ३

अधिभूत नश्चर भाव है, चेतन पुरुष अधिदैव ही ।  
अधियज्ञ मैं सब प्राणियों के देह बीच सदैव ही ॥ ४

तन त्यागता जो अन्त में मेरा मनन करता हुआ ।  
मुझमें असंशय नर मिले वो ध्यान यों धरता हुआ ॥ ५

अन्तिम समय तन त्यागता जिस भाव से जन व्याप्त हो ।  
उसमें रंगा रहकर सदा, उस भाव ही को प्राप्त हो ॥ ६

इस हेतु मुझको नित निरन्तर ही सुमर कर युद्ध भी ।  
संशय नहीं, मुझमें मिले, मन बुद्धि मझमें धर सभी ॥ ७

अभ्यास-बल से युक्त योगी चित्त अपना साध के ।  
उत्तम पुरुष हो प्राप्त होता है उसे आराध के ॥ ८

- सर्वज्ञ शास्ता सूक्ष्मतम आदित्य-सम तम से परे ।  
जो नित अचिन्त्य अनादि सर्वाधार का चिन्तन करे ॥ ९
- कर योग-बल से प्राण भृकुटि-मध्य अन्तिम काल में ।  
निश्चल हुआ वह भक्त मिलता दिव्य पुरुष विशाल में ॥ १०
- अक्षर कहें वेदज्ञ, जिसमें राग तज यति जन जमें ।  
हों ब्रह्मचारी जिस लिये, वह पद सुनो संक्षेप में ॥ ११
- सब इन्द्रियों को साधकर निश्चल हृदय में मन धरे ।  
फिर प्राण मस्तक में जमाकर धारणा योगी करे ॥ १२
- मेरा लगाता ध्यान कहता ॐ अक्षर ब्रह्म ही ।  
तन त्याग जाता जीव जो पाता परम गति है वही ॥ १३
- भजता मुझे जो जन सदैव अनन्य मन से प्रीति से ।  
नित युक्त योगी वह मुझे पाता सरल-सी रीति से ॥ १४
- पाए हुए हैं सिद्धि-उत्तम जो महात्मा जन सभी ।  
पाकर मुझे दुख-धाम नश्वर-जन्म नहीं पाते कभी ॥ १५
- विधिलोक तक जाकर पुनः जन जन्म पाते हैं यही ।  
पर पा गए अर्जुन! मुझे वे जन्म फिर पाते नहीं ॥ १६
- दिन-रात ब्रह्मा की, सहस्रों युग बडी जो जानते ।  
वे ही पुरुष दिन-रैन की गति ठीक हैं पहिचानते ॥ १७
- जब हो दिवस अव्यक्त से सब व्यक्त होते हैं तभी ।  
फिर रात्रि होते ही उसी अव्यक्त में लय हों सभी ॥ १८

- होता विवश सब भूत-गण उत्पन्न बारम्बार है ।  
लय रात्रि में होता दिवस में जन्म लेता धार है ॥ १९
- इससे परे फिर और ही अव्यक्त नित्य-पदार्थ हैं ।  
सब जीव विनशे भी नहीं वह नष्ट होता पार्थ है ॥ २०
- कहते परम गति हैं जिसे अव्यक्त अक्षर नाम है ।  
पाकर जिसे लौटे न फिर मेरा वहीं पर धाम है ॥ २१
- सब जीव जिसमें हैं सकल संसार जिसमें व्याप्त है ।  
वह पर-पुरुष होता अनन्य सुभक्ति से ही प्राप्त है ॥ २२
- वह काल सुन, तन त्याग जिसमें लौटते योगी नहीं ।  
वह भी कहूँगा काल जब मर लौट कर आते यहीं ॥ २३
- दिन, अग्नि, ज्वाला, शुक्लपक्ष, षट् उत्तरायण मास में ।  
तन त्याग जाते ब्रह्मवादी, ब्रह्म ही के पास में ॥ २४
- निशि, धूम्र में मर कृष्णपक्ष, षट् दक्षिणायन मास में ।  
नर चन्द्रलोक विशाल में बस फिर फँसे भव-त्रास में ॥ २५
- ये शुक्ल कृष्ण सदैव दो गति विश्व की ज्ञानी कहें ।  
दे मुक्ति पहली, दूसरी से लौट फिर जग में रहें ॥ २६
- ये मार्ग दोनो जान, योगी मोह में पडता नहीं ।  
इस हेतु अर्जुन! योग-युत सब काल में हो सब कहीं ॥ २७
- जो कुछ कहा है पुण्यफल, मख वेद से तप दान से ।  
सब छोड आदिस्थान ले, योगी पुरुष इस ज्ञान से ॥ २८

ॐ इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्री कृष्णार्जुन संवादे अक्षरब्रह्म योगोनाम अष्टमोऽध्यायः ॥

## नवां अध्याय राजविद्या राजगुह्य योग

- श्री भगवान ने कहा  
अब दोषदर्शी तू नहीं यो, गुप्त, सह-विज्ञान के ।  
वह ज्ञान कहता हूँ, अशुभ से मुक्त हो जो जानके ॥ १
- यह राजविद्या परम-गुप्त, पवित्र उत्तम ज्ञान है ।  
प्रत्यक्ष फलप्रद, धर्म युत, अव्यय, सरल, सुख-खान है ॥ २
- श्रद्धा न जिनको पार्थ है इस धर्म के शुभ सार में ।  
मुझको न पाकर लौट आते मृत्युमय संसार में ॥ ३
- अव्यक्त अपने रूप से जग व्याप्त मैं करता सभी ।  
मुझमें सभी प्राणी समझ पर मैं नहीं उनमें कभी ॥ ४
- मुझमें नहीं है भूत देखो योग-शक्ति-प्रभाव है ।  
उत्पन्न करता पालता उनसे न किन्तु लगाव है ॥ ५
- सब ओर रहती वायु है आकाश में जिस भाँति से ।  
मुझ में सदा ही है समझ सब भूतगण इस भाँति से ॥ ६
- कल्पान्त में मेरी प्रकृति में जीव लय होते सभी ।  
जब कल्प का आरम्भ हो, मैं फिर उन्हे रचता सभी ॥ ७
- अपनी प्रकृति आधीन कर, इस भूतगण को मैं सदा ।  
उत्पन्न बारम्बार करता, जो प्रकृतिवश सर्वदा ॥ ८
- बँधता नहीं हूँ पार्थ ! मैं इस कर्म-बन्धन में कभी ।

- रहकर उदासी सा सदा आसक्ति तज करता सभी ॥ ९
- अधिकार से मेरे प्रकृति रचती चराचर विश्व है ।  
इस हेतु फिरकी की तरह फिरता बराबर विश्व है ॥ १०
- मैं प्राणियों का ईश हूँ, इस भाव को नहीं जानके ।  
करते अवज्ञा जड, मुझे नर देहधारी मान के ॥ ११
- चित्त भ्रष्ट, आशा ज्ञान कर्म निरर्थ सारे ही किये ।  
वे आसुरी अति राक्षसीय स्वभाव मोहात्मक लिये ॥ १२
- दैवी प्रकृति के आसरे बुध-जन भजन मेरा करें ।  
भूतादि अव्यय जान पार्थ! अनन्य मन से मन धरें ॥ १३
- नित यत्न से कीर्तन करें दृढ व्रत सदा धरते हुए ।  
करते भजन हैं भक्ति से मम चन्दाना करते हुए ॥ १४
- कुछ भेद और अभेद से कुछ ज्ञान-यज्ञ विधान से ।  
पूजन करें मेरा कहीं कुछ सर्वतोमुख ध्यान से ॥ १५
- मैं यज्ञ श्रौतस्मार्त हूँ एवं स्वधा आधार हूँ ।  
घृत और औषधि, अग्नि, आहुति, मन्त्र का मैं सार हूँ ॥ १६
- जग का पिता माता पितामह विश्व-पोषण-हार हूँ ।  
ऋक् साम यजु श्रुति जानने के योग्य शुचि ओं कर हूँ ॥ १७
- पोषक प्रलय उत्पत्ति गतिआधार मित्र निधान हूँ ।  
साक्षी शरण प्रभु बीज अव्यय मैं निवासस्थान हूँ ॥ १८
- मैं ताप देता, रोकता जल, वृष्टि मैं करता कभी ।



मैं ही अमृत भी मृत्यु भी मैं सत् असत् अर्जुन सभी ॥ १९

जो सोमपा त्रैविज्ञ जन, निष्पाप अपने को किये ।  
कर यज्ञ मुझ को पूजते हैं स्वर्ग इच्छा को लिये ॥  
वे प्राप्त करके पुण्य लोक सुरेन्द्र का, सुरवर्ग में ।  
फिर दिव्य देवों के अनोखे भोग भोगें स्वर्ग में ॥ २०

वे भोग कर सुख भोग को, उस स्वर्गलोक विशाल में ।  
फिर पुण्य बीते आ फँसे इस लोक के दुख-जाल में ॥  
यों तीन वेदों में कहे जो कर्म-फल में लीन हैं ।  
वे कामना-प्रियजन सदा आवागमन-आधीन हैं ॥ २१

जो जन मुझे भजते सदैव अनन्य-भावापन्न हो ।  
उनका स्वयं मैं ही चलाता योग-क्षेम प्रसन्न हो ॥ २२

जो अन्य देवों को भजें नर नित्य श्रद्धा-लीन हों ।  
वे भी मुझे ही पूजते हैं पार्थ!पर विधि-हीन हो ॥ २३

सब यज्ञ-भोक्ता विश्व-स्वामी पार्थ मैं ही हूँ सभी ।  
पर वे न मुझको जानते हैं तत्त्व से गिरते तभी ॥ २४

सुरभक्त सुर को पितृ को पाते पितर-अनुरक्त हैं ।  
जो भूत पूजें भूत को, पाते मुझे मम भक्त हैं ॥ २५

अर्पण करे जो फूल फल जल पत्र मुझको भक्ति से ।  
लेता प्रयत्न-चित्त भक्त की वह भेंट मैं अनुरक्ति से ॥ २६

कौन्तेय! जो कुछ भी करो तप यज्ञ आहुति दान भी ।

नित खानपानादिक समर्पण तुम करो मेरे सभी ॥ २७

हे पार्थ! यों शुभ-अशुभ-फल-प्रद कर्म-बन्धन-मुक्त हो ।  
मुझमें मिलेगा मुक्त हो, संन्यास योग नियुक्त हो ॥ २८

द्वेषी हितैषी है न कोई, विश्व मुझमें एकसा ।  
पर भक्त मुझमें बस रहा, मैं भक्त के मन में बसा ॥ २९

यदि दुष्ट भी भजता अनन्य सुभक्ति को मन में लिये ।  
है ठीक निश्चयवान उसको साधु कहना चाहिये ॥ ३०

वह धर्म-युत हो शीघ्र शाश्वत् शान्ति पाता है यहीं ।  
यह सत्य समझो भक्त मेरा नष्ट होता है नहीं ॥ ३१

पाते परम-पद पार्थ! पाकर आसरा मेरा सभी ।  
जो अड रहे हैं पाप गति में, वैश्य वनिता शूद्र भी ॥ ३२

फिर राज-ऋषि पुण्यात्म ब्राह्मण भक्त की क्या बात है ।  
मेरा भजन कर तू दुखद नश्वर जगत् में तात है ॥ ३३

मुझमें लगा मन भक्त बन, कर यजन पूजन वन्दना ।  
मुझमें मिलेगा मत्परायण युक्त आत्मा को बना ॥ ३४

ॐ इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्री कृष्णार्जुन संवादे राजविधिद्या राजगुह्य योगोनाम नवमोऽध्यायः ॥

## दसवां अध्याय विभूति योग

श्री भगवान ने कहा

मेरे परम शुभ सुन महाबाहो! वचन अब और भी ।  
तू प्रिय मुझे, तझसे कहूँगा बात हित की मैं सभी ॥ १

उत्पत्ति देव महर्षिगण मेरी न कोई जानते ।  
सब भाँति इनका आदि हूँ मैं, यों न ये पहिचानते ॥ २

जो जानता मुझ को महेश्वर अज अनादि सदैव ही ।  
ज्ञानी मनुष्यों में सदा सब पाप से छुटता वही ॥ ३

नित निश्चयात्मक बुद्धि ज्ञान अमूढता सुख दुःख दम ।  
उत्पत्ति लय एवं क्षमा, भय अभय सत्य सदैव शम ॥ ४

समता अहिंसा तुष्टि तप एवं अयश यश दान भी ।  
उत्पन्न मुझसे प्राणियों के भाव होते हैं सभी ॥ ५

हे पार्थ सप्त महर्षिजन एवं प्रथम मनुचार भी ।  
मम भाव-मानस से हुए, उत्पन्न उनसे जन सभी ॥ ६

जो जानता मेरी विभूति, व योग-शक्ति यथार्थ है ।  
संशय नहीं दृढ-योग वह नर प्राप्त करता पार्थ है ॥ ७

मैं जन्मदाता हूँ सभी मुझसे प्रवर्तित तात हैं ।  
यह जान ज्ञानी भक्त भजते भाव से दिन रात हैं ॥ ८

मुझमें लगा कर प्राण मन, करते हुए मेरी कथा ।

- करते परस्पर बोध, रमते तुष्ट रहते सर्वथा ॥ ९
- इस भाँति होकर युक्त जो नर नित्य भजते प्रीति से ।  
मति-योग ऐसा दूँ मुझे वे पास कें जिस रीति से ॥ १०
- उनके हृदय में बैठ पार्थ! कृपार्थ अपने ज्ञान का ।  
दीपक जलाकर नाश करता तम सभी अज्ञान का । ११
- अर्जुन ने कहा  
तुम परम-ब्रह्म पवित्र एवं परमधाम अनूप हो ।  
हो आदिदेव अजन्म अविनाशी अनन्त स्वरूप हो ॥ १२
- नारद महा मुनि असित देवल व्यास ऋषि कहते यही ।  
मुझ से स्वयं भी आप हे जगदीश! कहते हो वही ॥ १३
- केशव! कथन सारे तुम्हारे सत्य ही मैं मानता ।  
हे हरि! तुम्हारी व्यक्ति सुर दानव न कोई जानता ॥ १४
- हे भूतभावन भूतईश्वर देवदेव जगत्पते ।  
तुम आप पुरुषोत्तम स्वयं ही आपको पहिचानते ॥ १५
- जिन-जिन महान विभूतियों से व्याप्त हो संसार में ।  
वे दिव्य आत्म-विभूतियाँ बतलाइये विस्तार में ॥ १६
- चिन्तन सदा करता हुआ कैसे तुम्हे पहिचान लूँ ।  
किन-किन पदार्थों में करूँ चिन्तन तुम्हारा जान लूँ ॥ १७
- भगवन्! कहो निज योग और विभूतियाँ विस्तार से ।  
भरता नहीं मन आपकी वाणी सुधामय धार से ॥ १८

- श्री भगवान ने कहा  
 कौन्तेय! दिव्य विभूतियाँ मेरी अनन्त अशेष हैं ।  
 अब मैं बताऊँगा तुझे जो जो विभूति विशेष है ॥ १९
- मैं सर्व जीवों के हृदय में अन्तरात्मा पार्थ! हूँ ।  
 सब प्राणियों का आदि एवं मध्य अन्त यथार्थ हूँ ॥ २०
- आदित्यगण में विष्णु हूँ, सब ज्योति बीच दिनेश हूँ ।  
 नक्षत्र में राकेश, मरुतों में मरीचि विशेष हूँ ॥ २१
- मैं साम वेदों में तथा सुरवृन्द बीच सुरेन्द्र हूँ ।  
 मैं शक्ति चेतन जीव में, मन इन्द्रियों का केन्द्र हूँ ॥ २२
- शिव सकल रुद्रों बीच राक्षस यक्ष बीच कुबेर हूँ ।  
 मैं अग्नि वसुओं में, पहाड़ों में पहाड सुमेर हूँ ॥ २३
- मुझको बृहस्पति पार्थ! मुख्य पुरोहितों में जान तू ।  
 सेनानियों में स्कन्द, सागर सब सरो में मान तू ॥ २४
- भृगु श्रेष्ठ ऋषियों में, वचन में मैं सदा ॐकार हूँ ।  
 सब स्थावरों में गिरि हिमालय, यज्ञ में जप-सार हूँ ॥ २५
- मुनि कपिल सिद्धों बीच, नारद देव-ऋषियों में कहा ।  
 गन्धर्वगण में चित्ररथ, तरु-वर्ग में पीपल महा ॥ २६
- उच्चैः श्रवा सारे हयों में, अमृत-जन्य अनूप हूँ ।  
 मैं हाथियों में श्रेष्ठ ऐरावत, नरों में भूप हूँ ॥ २७
- सुरधेनु गौओं में, भुजंगों बीच वासुकि सर्प हूँ ।

मैं वज्र शस्त्रों में, प्रजा उत्पत्ति-कर कन्दर्प हूँ ॥	२८
मैं पितर गण में अर्यमा हूँ, नाग-गण में शेष हूँ । यम शासकों में, जलचरों में वरुण रूप विशेष हूँ ॥	२९
प्रह्लाद दैत्यों बीच, संख्या-सूचकों में काल हूँ । मैं पक्षियों में गरुड, पशुओं में मृगेन्द्र विशाल हूँ ॥	३०
गंगा नदों में, शस्त्र-धारी वर्ग में मैं राम हूँ । मैं पवन वेगों बीच, मीनों में मकर अभिराम हूँ ॥	३१
मैं आदि हूँ मध्यान्त हूँ हे पार्थ! सारे सर्ग का । विद्यागणों में ब्रह्मविद्या, वाद वादी-वर्ग का ॥	३२
सारे समासों बीच द्रुन्दु, अकार वर्णों में कहा । मैं काल अक्षय और अर्जुन विश्वमुख धाता महा ॥	३३
मैं सर्वहर्ता मृत्यु, सबका मूल जो होंगे अभी । तिय वर्ग में मेधा क्षमा धृति कीर्ति सुधि श्री वाक् भी ॥	३४
हूँ साम में मैं बृहत्साम, बसन्त ऋतुओं में कहा । मंगसिर महीनों बीच, गायत्री सुखन्दों में महा ॥	३५
तेजस्वियों का तेज हूँ मैं और ढलियों में जुआ । जय और निश्चय, सत्त्व सारे सत्वशीलों का हुआ ॥	३६
मैं वृष्णियों में वासुदेव व पाण्डवों में पार्थ हूँ । मैं मुनिजनो में व्यास, कवियों बीच शुक्र यथार्थ हूँ ॥	३७
मैं शासकों का दण्ड, विजयी की सुनीति प्रधान हूँ ।	

हूँ मौन गुह्यों में सदा, मैं ज्ञानियों का ज्ञानहूँ ॥ ३८

इस भाँति प्राणीमात्र का जो बीज है मैं हूँ सभी ।  
मेरे बिना अर्जुन! चराचर है नहीं कोई कभी ॥ ३९

हे पार्थ! दिव्य विभूतियाँ मेरी अनन्त अपार हैं ।  
कुछ कह दिये दिग्दर्शनार्थ विभूति के विस्तार हैं ॥ ४०

जो जो जगत में वस्तु, शक्ति विभूति श्रीसम्पन्न है ।  
वे जान मेरे तेज के ही अंश से उत्पन्न हैं ॥ ४१

विस्तार से क्या काम तुमको जान लो यह सार से ।  
इस एक मेरे अंश से व्यापा हुआ संसार है ॥ ४२

ॐ इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्री कृष्णार्जुन संवादे विभूति योगोनाम दशमोऽध्यायः ॥

## ग्यारहवां अध्याय विश्वरूप दर्शन योग

- अर्जुन ने कहा  
उपदेश जो अति गुप्त जो तुमने कहा करके दया ।  
अध्यात्म विषयक ज्ञान से सब मोह मेरा मिट गया ॥ १
- विस्तार से सब सुन लिया उत्पत्ति लय का तत्त्व है ।  
मैंने सुना सब आपका अक्षय अनन्त महत्त्व है ॥ २
- हैं आप वैसे आपने जैसा कहा है हे प्रभो ।  
मैं चाहता हूँ देखना ऐश्वर्यमय उस रूप को ॥ ३
- समझें प्रभो यदि आप, मैं वह देख सकता हूँ सभी ।  
तो वह मुझे योगेश ! अव्यय रूप दिखलादो अभी ॥ ४
- श्री भगवान ने कहा  
हे पार्थ! देखो दिव्य अनुपम विविध वर्णाकार के ।  
शत-शत सहस्रों रूप मेरे भिन्न-भिन्न प्रकार के । ५
- सब देख भारत! रुद्र वसु अश्विनि मरुत आदित्य भी ।  
आश्चर्य देख अनेक अब पहले न देखे जो कभी ॥ ६
- इस देह में एकाग्र सारा जग चराचर देखले ।  
जो और चाहे देखना इसमें बराबर देखते ॥ ७
- मुझको न अपनी आँख से तुम देख पाओगे कभी ।  
मैं दिव्य देता दृष्टि, देखो योग का वैभव सभी ॥ ८



संजय ने कहा

जब पार्थ से श्री कृष्ण ने इस भाँति हे राजन कहा ।  
तब ही दिया ऐश्वर्य-युक्त स्वरूप का दर्शन महा ॥ ९

मुख नयन थे उसमें अनेकों ही अनोखा रूप था ।  
पहिने अनेकों दिव्य गहने शस्त्र-साज अनूप था ॥ १०

सीमा-रहित अद्भुत महा वह विश्वतोमुख रूप था ।  
धारण किये अति दिव्य माला वस्त्र गन्ध अनूप था ॥ ११

नभ में सहस्र रवि मिल उदय हों प्रभापुञ्ज महान् हो ।  
तब उस महात्मा कान्ति के कुछ कुछ प्रकाश समान हो ॥ १२

उस देवदेव शरीर में देखा धनंजय ने तभी ।  
बांटा विविध विध से जगत् एकत्र उसमें है सभी ॥ १३

रोमांच तन में हो उठा आश्चर्य से मानो जगे ।  
तब यों धनंजय सिर झुका, कर जोड कर कहने लगे ॥ १४

अर्जुन ने कहा

भगवन् तुम्हारी देह में मैं देखता सुर-गण सभी ।  
मैं देखता हूँ देव! इसमें प्राणियों का संघ भी ॥  
शुभ कमल आसन पर इसी में ब्रह्मदेव विराजते ।  
इसमें महेश्वर और ऋषीगण दिव्य पन्नग साजते ॥ १५

बहु बाहु इसमें हैं अनेकों ही उदरमय रूप है ।  
मुख और आँखें हैं अनेकों हरि-स्वरूप अनूप है ॥  
दिखता न विश्वेश्वर तुम्हारा आदि, मध्य न अन्त है ।

मैं देखता सब ओर छाया विश्वरूप अनन्त है ॥ १६

पहिने मुकुट मञ्जुल, गदा, शुभ चक्र धरते आप हैं ।  
हो तेज-निधि सारी दिशा दैदीप्त करते आप हैं ॥  
तुम दुर्निरीक्ष्य महान् अपरम्पार हे भगवान हो ।  
सब ओर दिखते दीप्त अग्नि दिनेश सम द्युतिवान हो ॥ १७

तुम जानने के योग्य अक्षरब्रह्म अपरम्पार हो ।  
जगदीश! सारे विश्व मंडल के तुम्हीं आधार हो ॥  
अव्यय सनातन धर्म के रक्षक सदैव महान् हो ।  
मेरी समझ से तुम सनातन पुरुष हे भगवान् हो ॥ १८

नहिं आदि मध्य न अन्त और अनन्त बल-भंडार है ।  
शशि-सूर्य रूपा नेत्र और अपार भुज विस्तार है ॥  
प्रज्वलित अग्नि और प्रचण्ड मुख मैं देखता मैं धर रहे ।  
संसार सारा तप्त अपने तेज से हरि कर रहे ॥ १९

नभ भूमि अन्तर सब दिशा इस रूप से तुम व्यापते ।  
यह उग्र अद्भुत रूप लखि त्रैलोक्य थर-थर काँपते ॥ २०

ये आप ही मैं देव-वृन्द प्रवेश करते जा रहे ।  
डरते हुए कर जोड जय-जय देव शब्द सुना रहे ॥  
सब सिद्ध संघ महर्षिगण भी स्वस्ति कहते आ रहे ।  
पठ कर विविध विध स्तोत्र स्वामिन् आपके गुण गा रहे ॥ २१

सब रुद्रगण आदित्य वसु हैं साध्यगण सारे खडे ।  
सब पितर विश्वेदेव आश्विनि और सिद्ध बडे-बडे ॥

गन्धर्वगण राक्षस मरुत समुदाय एवं यक्ष भी ।  
मन में चकित होकर हरे ! वे देखते तुमको सभी ॥ २२

बहु नेत्र मुखवाला महाबाहो ! स्वरूप अपार है ।  
हाथों तथा पैरों व जंघा का बड़ा विस्तार है ॥  
बहु उदर इसमें और बहु विकराल डाढ़े हैं महा ।  
भयभीत इसको देख सब हैं भय मुझे भी हो रहा ॥ २३

यह गगनचुंबी जगमगाता हरि! अनेकों रंग का ।  
आँखें बड़ी बलती, खुला मुख भी अनोखे ढंग का ॥  
यह देख ऐसा रूप मैं मन में हरे ! घबरा रहा ।  
नहिं धैर्य धर पाता, न भगवन ! शान्ति भी मैं पा रहा ॥ २४

डाढ़ें भयंकर देख पडता मुख महाविकराल है ।  
मानो धधकती यह प्रलय-पावक प्रचण्ड विशाल है ॥  
सुख है न ऐसे देख मुख भूला दिशायें भी सभी ।  
देवेश ! जग-आधार ! हे भगवन ! करो करुणा अभी ॥ २५

धृतराष्ट्र-सुत सब साथ उनके ये नृपति-समुदाय भी ।  
श्री भीष्म द्रोणाचार्य कर्ण प्रधान अपने भट सभी ॥ २६

विकराल डाढ़ों युत भयानक आपके मुख में हरे ।  
अतिवेग से सब दौडते जाते धडाधड हैं भरे ॥  
ये दिख रहे कुछ दाँत में लटके हुए रण-शूर हैं ।  
इस डाढ़ मे पिस कर अभी जिनके हुए शिर चूर हैं ॥ २७

जिस भाँति बहु सरिता-प्रभाव समुद्र प्रति जाते बहे ।

ऐसे तुम्हारे ज्वाल मुख में वेग से नर जा रहे ॥ २८

जिस भाँति जलती ज्वाल में जाते पतंगे वेग से ।  
यों मृत्यु हित ये नर, मुखों में आपके जाते धसे ॥ २९

सब ओर से इस ज्वालमय मुख में नरों को धर रहे ।  
देवेश ! रसना चाटते भक्षण सभी का कर रहे ॥  
विष्णो! प्रभाएँ आपकी अति उग्र जग में छा रहीं ।  
निज तेज से संसार सारा ही सुरेश ! तपा रहीं ॥ ३०

तम उग्र अद्भुत रूपधारी कौन हो बतलाइये ।  
हे देवदेव ! नमामि देव ! प्रसन्न अब हो जाइये ॥  
तुम कौन आदि स्वरूप हो, यह जानना मैं चाहता ।  
कुछ भी न मुझको आपकी इस दिव्य करनी का पता ॥ ३१

श्री भगवान ने कहा  
मैं काल हूँ सब लोक नाशक उग्र अपने को किये ।  
आया यहाँ संसार का संहार करने के लिये ॥  
तू हो न हो तो भी धनंजय! देख तेरे बिन लडे ।  
ये नष्ट होंगे वीरवर योधा बडे जो सब खडे ॥ ३२

अथएव उठ रिपुदल-विजय कर, प्राप्त कर सम्मान को ।  
फिर भोग इस धन-धान्य से परिपूर्ण राज्य महान् को ।  
हे पार्थ ! मैं ने वीर ये सब मार पहिले ही दिये ।  
आगे बढो तुम युद्ध में बस नाम करने के लिये ॥ ३३

ये भीष्म द्रोण तथा जयद्रथ कर्ण योद्धा और भी ।

जो वीरवर हैं मार पहिले ही दिये मैंने सभी ॥  
अब मार इन मारे हुआं को, वीरवर ! व्याकुल न हो ।  
कर युद्ध रण में शत्रुओं को पार्थ जीतेगा अहो ॥ ३४

संजय ने कहा  
तब मुकुटधारी पार्थ सुन केशव-वचन इस रीति से ।  
अपने उभय कर जोड कर कँपते हुए भयभीत से ॥  
नमते हुए गद्गद् गले से , और भी डरते हुए ।  
श्री कृष्ण से बोले वचन यों वन्दना करते हुए ॥ ३५

अर्जुन ने कहा  
होता जगत अनुरक्त हर्षित आपका कीर्तन किये ।  
सब भागते राक्षस दिशाओं में तुम्हारा भय लिये ॥  
नमता तुम्हें सब सिद्ध-संघ सुरेश ! बारम्बार है ।  
हे हृषीकेश समस्त ये उनका उचित व्यवहार है ॥ ३६

तुम ब्रह्म के भी आदिकारण और उनसे श्रेष्ठ हो ।  
फिर हे महात्मन! आपकी यों वन्दना कैसे न हो ॥  
संसार के आधार हो, हे देवदेव! अनन्त हो ।  
तुम सत्, असत् इनसे परे अक्षर तुम्ही भगवन्त हो ॥ ३७

भगवन्! पुरातन पुरुष हो तुम विश्व के आधार हो ।  
हो आदिदेव तथैव उत्तम धाम अपरम्पार हो ॥  
ज्ञाता तुम्हीं हो जानने के योग्य भी भगवन्त हो ।  
संसार में व्यापे हुए हो देवदेव! अनन्त हो ॥ ३८

तुम वायु यम पावक वरुण एवं तुम्ही राकेश हो ।

ब्रह्म तथा उनके पिता भी आप ही अखिलेश हो ॥  
हे देवदेव ! प्रणाम देव ! प्रणाम सहस्रों बार हो ।  
फिर फिर प्रणाम ! प्रणाम ! नाथ, प्रणाम! बारम्बार हो ॥ ३९

सानन्द सन्मुख और पीछे से प्रणाम सुरेश ! हो ।  
हरि बार-बार प्रणाम चारों ओर से सर्वेश ! हो ॥  
है वीर्य्य शौर्य्य अनन्त, बलधारी अतुल बलवन्त हो ।  
व्यापे हुए सब में इसी से 'सर्व ' हे भगवन्त! हो ॥ ४०

तुमको समझ अपना सखा जाने बिना महिमा महा ।  
यादव ! सखा ! हे कृष्ण! प्यार प्रमोद या हठ से कहा ॥ ४१

अच्युत ! हँसाने के लिये आहार और विहार में ।  
सोते अकेले बैठते सब में किसी व्यवहार में ॥  
सबकी क्षमा मैं माँगता जो कुछ हुआ अपराध हो ।  
संसार में तुम अतुल अपरम्पार और अगाध हो ॥ ४२

सारे चराचर के पिता हैं आपजग आधार हैं ।  
हैं आप गुरुओं के गुरु अतिपूज्य अपरम्पार हैं ॥  
त्रैलोक्य में तुमसा प्रभो ! कोई कहीं भी है नहीं ।  
अनुपम अतुल्य प्रभाव बढकर कौन फिर होगा कहीं ॥ ४३

इस हेतु वन्दन-योग्य ईश! शरीर चरणों में किये ।  
मैं आपको करता प्रणाम प्रसन्न करने के लिये ॥  
ज्यों तात सुत के, प्रिय प्रिया के, मित्र सहचर अर्थ है ।  
अपराध मेरा आप त्यों ही सहन हेतु समर्थ है ॥ ४४

यह रूप भगवन! देखकर, पहले न जो देखा कभी ।  
हर्षित हुआ मैं किन्तु भय से है विकल भी मन अभी ॥  
देवेश! विश्वाधार! देव ! प्रसन्न अब हो जाइये ।  
हे नाथ! पहला रूप ही अपना मुझे दिखलाइए ॥

४५

मैं चाहता हूँ देखना तुमको मुकुट धारण किये ।  
हे सहस्रबाहो! शुभ करो मेें चक्र और गधा लिये ॥  
हे विश्वमूर्ते ! फिर मुझे वह सौम्य दर्शन दीजिये ।  
वह ही चतुर्भुज रूप हे देवेश ! अपना कीजिये ॥

४६

श्री भगवान ने कहा

हे पार्थ! परम प्रसन्न हो तुझ पर अनुग्रह-भाव से ।  
मैंने दिखाया विश्वरूप महान योग-प्रभाव से ॥  
यह परम तेजोमय विराट् अनन्त आदि अनूप है ।  
तेरे सिवा देखा किसी ने भी नहीं यह रूप है ॥

४७

हे कुरुप्रवीर! न वेद से, स्वाध्याय, यज्ञ या दान से ।  
दिखता नहीं मैं उग्र तप या क्रिया कर्म-विधान से ॥  
मेरा विराट् स्वरूप इस नर-लोक मे अर्जुन! कहीं ।  
अतिरिक्त तेरे और कोई देख सकता है नहीं ॥

४८

यह घोर रूप निहार कर मत मूढ और अधीर हो ।  
फिर रूप पहला देख, भय तज तुष्ट मनमें वीर हो ॥

४९

संजय ने कहा

यों कह, दिखाया रूप अपना सौम्य तन फिर धर लिया ।  
भगवन् ने भयभीत व्याकुल पार्थ को धीरज दिया ॥

५०

अर्जुन ने कहा

यह सौम्य नर-तन देख भगवन् ! मन ठिकाने आ गया ।

जिस भाँति पहले था वही अपनी अवस्था पा गया ॥ ५१

श्री भगवान ने कहा

हे पार्थ! दुर्लभ रूप यह जिसके अभी दर्शन किये ।

सुर भी तरसते हैं इसी की लालसा मन में लिये ॥ ५२

दिखता न मैं तप, दान अथवा यज्ञ, वेदों से कहीं ।

देखा जिसे तू ने उसे नर देख पाते हैं नहीं ॥ ५३

हे पार्थ ! एक अनन्य मेरी भक्ति से सम्भव सभी ।

यह ज्ञान, दर्शन, और मुझमें तत्त्व ज्ञान प्रवेश भी ॥ ५४

मेरे लिये जो कर्म-तत्पर, नित्य मत्पर, भक्त है ।

पाता मुझे वह जो सभी से वैर हीन विरक्त है ॥ ५५

ॐ इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्री कृष्णार्जुन संवादे विश्व रूपदर्शन योगोनाम एकादाशोऽध्यायः ॥



## बारहवां अध्याय भक्ति योग

- अर्जुन ने कहा  
अव्यक्त को भजते कि जो धरते तुम्हारा ध्यान है ।  
इन योगियों में योगवेत्ता कौन श्रेष्ठ महान है । १
- श्री भगवान ने कहा  
कहता उन्हे मैं श्रेष्ठ मुझमें चित्त जो धरते सदा ।  
जो युक्त हो श्रद्धा-सहित मेरा भजन करते सदा ॥ २
- अव्यक्त, अक्षर, अनिर्देश्य, अचिन्त्य नित्य स्वरूप को ।  
भजते अचल, कूटस्थ, उत्तम सर्वव्यापी रूप को । ३
- सब इन्द्रियाँ साथे सदा समबुद्धि ही धरते हुए ।  
पाते मुझे वे पार्थ प्राणीमात्र हित करते हुए ॥ ४
- अव्यक्त में आसक्त जो होता उन्हे अति क्लेश है ।  
पाता पुरुष यह गति, सहन करके विपत्ति विशेष है ॥ ५
- हो मत्परायण कर्म सब अर्पण मुझे करते हुए ।  
भजते सदैव अनन्य मन से ध्यान जो धरते हुए ॥ ६
- मुझमें लगाते चित्त उनका शीघ्र कर उद्धार मैं ।  
इस मृत्युमय संसार से बेडा लगाता पार मैं ॥ ७
- मुझमें लगाले मन, मुझी में बुद्धि को रख सब कहीं ।  
मुझमें मिलेगा फिर तभी इसमें कभी संशय नहीं ॥ ८

- मुझमें धनंजय! जो न ठीक प्रकार मन पाओ बसा ।  
अभ्यास-योग प्रयत्न से मेरी लगालो लालसा ॥ ९
- अभ्यास भी होता नहीं तो कर्म कर मेरे लिये ।  
सब सिद्धि होगी कर्म भी मेरे लिये अर्जुन! किये ॥ १०
- यह भी न हो तब आसरा मेरा लिये कर योग ही ।  
कर चित्त-संयम कर्म-फल के त्याग सारे भोग भी ॥ ११
- अभ्यास-पथ से ज्ञान उत्तम, ज्ञान से गुरु ध्यान है ।  
गुरु ध्यान से फल-त्याग, करता त्याग शान्ति प्रदान है ॥ १२
- बिन द्वेष, सारे प्राणियों का मित्र, करुणावान् हो ।  
सम दुःख सुख में मद न ममता, क्षमाशील महान् हो ॥ १३
- जो तुष्ट नित मन बुद्धि से मुझमें हुआ आसक्त है ।  
दृढ निश्चयी है संयमी प्यारा मुझे वह भक्त है ॥ १४
- पाते न जिसमे क्लेश जन, उनसे न पाता आप ही ।  
भय क्रोध हर्ष विषाद बिन प्यारा मुझे है जन वही ॥ १५
- जो शुचि उदासी दक्ष है जिसको न दुख बाधा रही ।  
इच्छा-रहित, आरम्भ-त्यागी भक्त प्रिय मुझको वही ॥ १६
- करता न द्वेष न हर्ष जो बिन शोक है बिन कामना ।  
त्यागे शुभाशुभ फल वही है भक्त प्रिय मुझको घना ॥ १७
- सम शत्रु मित्रों से सदा अपमान मान समान है ।  
शीतोष्ण सुख दुख सम जिसे आसक्ति बिन मतिमान है ॥ १८

निन्दा प्रशंसा सम जिसे, मौनी सदा सन्तुष्ट ही ।  
अनिकेत निश्चल बुद्धिमय प्रिय भक्त है मुझ को वही ॥ १९

जो मत्परायण इस अमृत-मय धर्म में अनुरक्त है ।  
वे नित्य श्रद्धावान जन मेरे परम प्रिय भक्त हैं ॥ २०

ॐ इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्री कृष्णार्जुन संवादे भक्ति योगोनाम द्वादशोऽध्यायः ॥

## तेरहवां अध्याय क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग

- श्री भगवान ने कहा  
कौन्तेय! यह तन क्षेत्र है ज्ञानी बताते हैं यही ।  
जो जानता इस क्षेत्र को क्षेत्रज्ञ कहलाता वही ॥ १
- हे पार्थ ! क्षेत्रों में मुझे क्षेत्रज्ञ जान महान तू ।  
क्षेत्रज्ञ एवं का सब ज्ञान मेरा जान तू ॥ २
- वह क्षेत्र जो, जैसा, जहाँ से, जिन विकारों-युत, सभी ।  
संक्षेप में सुन, जिस प्रभाव समेत वह क्षेत्रज्ञ भी ॥ ३
- बहु भाँति ऋषियों और छन्दों से अनेक प्रकार से ।  
गाया पदों में ब्रह्मसूत्रों के सहेतु विचार से ॥ ४
- मन बुद्धि एवं महाभूत प्रकृति अहंकृति भाव भी ।  
पाँचों विषय सब इन्द्रियों के और इन्द्रियगण सभी ॥ ५
- सुख दुःख इच्छा द्वेष धृति संघात एवं चेतना ।  
संक्षेप में यह क्षेत्र है समुदाय जो इनका बना ॥ ६
- अभिमान दम्भ अभाव, आर्जव, शौच, हिंसाहीनता ।  
थिरता, क्षमा, निग्रह तथा आचार्य-सेवा दीनता ॥ ७
- इन्द्रिय-विषय-वैराग्य एवं मद सदैव निवारना ।  
जीवन, जरा, दुख, रोग, मृत्यु सदोष नित्य विचारना ॥ ८
- नहिं लिप्त नारी पुत्र में सब त्यागना फल वासना ।

- नित शुभ अशुभ की प्राप्ति में भी एकसा रहना बना ॥ ९
- मुझमें अनन्य विचार से व्यभिचार-विरहित भक्ति हो ।  
एकांन्त का सेवन न जन समुदाय में आसक्ति हो ॥ १०
- अध्यात्म ज्ञान व तत्त्व ज्ञान विचार, यह सब ज्ञान हैं ।  
विपरीत इनके और जो कुछ है सभी अज्ञान है ॥ ११
- अब वह बताता ज्ञेय जिसके ज्ञान से निस्तार है ।  
नहिं जो असत् सत् परम ब्रह्म अनादि और अपार है ॥ १२
- सर्वत्र उसके पाणि पद, सिर नेत्र मुख सब ओर ही ।  
सब ओर उसके कान हैं, सर्वत्र फैला है वही ॥ १३
- इन्द्रिय-गुणों का भास उसमें किन्तु इन्द्रिय-हीन है ।  
हो अलग जग-पालक, निगुण होकर गुणों में लीन है ॥ १४
- भीतर व बाहर प्राणियों में दूर भी है पास भी ।  
वह चर अचर अतिसूक्ष्म है जाना नहीं जाता कभी ॥ १८
- अविभक्त होकर प्राणियों में वह विभक्त सदैव है ।  
वह ज्ञेय पालक और नाशक जन्मदाता देव है ॥ १६
- वह ज्योतियों की ज्योति है, तम से परे है, ज्ञान है ।  
सब में बसा है, ज्ञेय है, वह ज्ञानगम्य महान् है ॥ १७
- यह क्षेत्र ज्ञान महान् ज्ञेय कहा गया संक्षेप में ।  
हे पार्थ! इसको जान मेरा भक्त मुझमें आ बसे ॥ १८
- यह प्रकृति एवं पुरुष दोनो ही अनादि विचार हैं ।

पैदा प्रकृति से ही समझ गुण तीन और वि कार हैं ॥ १९

है कार्य एवं करण की उत्पत्ति कारण प्रकृति ही ।  
इस जीव को कारण कहा सुख दुःख भोग निमित्त ही ॥ २०

रह कर प्रकृति में नित पुरुष करता प्रकृति-गुण भोग है ।  
अच्छी बुरी सब योनियां देना यही गुण-योग है ॥ २१

द्रष्टा व अनुमन्ता सदा भर्ता प्रभोक्ता शिव महा ।  
इस देह में परमात्मा उस पर-पुरुष को है कहा ॥ २२

ऐसे पुरुष एवं प्रकृति को गुण सहित जो जान ले ।  
बरताव कैसा भी करे वह जन्म फिर जग में न ले ॥ २३

कुछ आप ही में आप आत्मा देखते हैं ध्यान से ।  
कुछ कर्मयोगी योग से कुछ सांख्य-ज्ञानी ज्ञान से ॥ २४

सुन दूसरों से ही किया करते भजन अनजान हैं ।  
तरते असंशय मृत्यु वे श्रुति मं लगे मतिमान् हैं ॥ २५

जानो चराचर जीव जो पैदा हुए संसार में ।  
सब क्षेत्र के क्षेत्रज्ञ के संयोग से विस्तार में ॥ २६

अविनाशि, नश्वर सर्वभूतों में रहे सम नित्य ही ।  
इस भाँति ईश्वर को पुरुष जो देखता देखे वही ॥ २७

जो देखता समभाव से ईश्वर सभी में व्याप्त है ।  
करता न अपनी घात है, करता परम पद प्राप्त है ॥ २८

करती प्रकृति सब कर्म, आत्मा है अकर्ता नित्य ही ।

इस भाँति से जो देखता है, देखता है जन वही ॥	२९
जब प्राणियों की भिन्नता जन एक में देखे सभी । विस्तार देखे एक से ही ब्रह्म हो पाता तभी ॥	३०
यह ईश अव्यय, निगुण और अनादि होने से सदा । करता न होता लिप्त है रह देह में भी सर्वदा ॥	३१
नम सर्वव्यापी सूक्ष्म होने से न जैसे लिप्त हो । सर्वत्र आत्मा देह में रह कर न वैसे लिप्त हो ॥	३२
ज्यों एक रवि सम्पूर्ण जग में तेज भरता है सदा । यों ही प्रकाशित क्षेत्र को क्षेत्रज्ञ करता है सदा ॥	३३
क्षेत्रज्ञ एवं क्षेत्र अन्तर ज्ञान से समझें सही । समझें प्रकृति से छूटना जो ब्रह्म को पाते वही ॥	३४

ॐ इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्री कृष्णार्जुन संवादे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योगोनाम त्रयो दशोऽध्यायः ॥

## चौदहवां अध्याय गुणत्रय विभागयोग

- श्री भगवान ने कहा  
अति श्रेष्ठ ज्ञानों में बताता ज्ञान मैं अब और भी ।  
मुनि पा गये हैं सिद्धि जिसको जान कर जग में सभी ॥ १
- इस ज्ञान का आश्रय लिये जो रूप मेरा हो रहें ।  
उत्पत्ति-काल न जन्म लें, लय-काल में व्यथा सहें ॥ २
- इस प्रकृति अपनी योनि में मैं गर्भ रखता हूँ सदा ।  
उत्पन्न होते हैं उसीसे सर्व प्राणी सर्वदा ॥ ३
- सब योनियों में मूर्तियों के जो अनेकों रूप हैं ।  
मैं बीज-प्रद उनका पिता हूँ प्रकृति योनि अनूप है ॥ ४
- पैदा प्रकृति से सत्त्व, रज, तम त्रिगुण का वि स्तार है ।  
इस देह में ये जीव को ले बाँध, जो अविकार है ॥ ५
- अविकार सतगुण है प्रकाशक क्योंकि निर्मल आप है ।  
यह बाँध लेता जीव को सुख ज्ञान से निष्पाप है ॥ ६
- जानो रजोगुण राजमय, उत्पन्न तृष्णा संग से ।  
वह बाँध लेता जीव को कौन्तेय कर्म-प्रसंग से ॥ ७
- अज्ञान से उत्पन्न तम सब जीव जो मोहित करे ।  
आलस्य नींद प्रमाद से यह जीव को बंधित करे ॥ ८
- सुख में सतोगुण, कर्म में देता रजोगुण संग है ।



ढक कर तमोगुण ज्ञान को देता प्रमाद प्रसंग है ॥	९
रज तम दबें तब सत्त्व गुण, तम सत्त्व दबते रज बढे । रज सत्त्व दबते ही तमोगुण देहधारी पर चढे ॥	१०
जब देह की सब इन्द्रियों में ज्ञान का हो चाँदना । तब जान लेना चाहिए तन में सतोगुण है घना ॥	११
तृष्णा अशान्ति प्रवृत्ति होकर मन प्रलोभन में पडे । आरम्भ होते कर्म के अर्जुन ! रजोगुण जब बढे ॥	१२
कौन्तेय! मोह प्रमाद हो, जब हो न मन में चाँदना । उत्पन्न हो आलस्य जब होता तमोगुण है घना ॥	१३
ईस जीव में यदि सत्त्व गुण की वृद्धि मरते काल है । तो प्राप्त करता इन्द्रियों का शुद्ध लोक विशाल है ॥	१४
रज-वृद्धि में मर देह कर्मासक्त पुरुषों में धरे । जड योनियों में जन्मता, यदि जन तमोगुण में मरे ॥	१५
फल पुण्य कर्मों का सदा शुभ श्रेष्ठ सात्त्विक ज्ञान है । फल दुख रजोगुण का, तमोगुण फल सदा अज्ञान है ॥	१६
उत्पन्न सत से ज्ञान, रज से नित्य लोभ प्रधान है । है मोह और प्रमाद तमगुण से सदा अज्ञान है ॥	१७
सात्त्विक पुरुष स्वर्गादि में, नर-लो क में राजस बस्यें । जो तामसी गुण में बस्यें, वे जन अधोगति में फँस्यें ॥	१८
कर्ता न कोई तज त्रिगुण यह देखता द्रष्टा जभी ।	

- जाने गुणों से पार जब, पाता मुझे है जन तभी ॥ १९
- जो देहधारी, देह-कारण पार ये गुण तीन हो ।  
छुट जन्म मृत्यु जरादि दुख से वह अमृत में लीन हो ॥ २०
- अर्जुन ने कहा  
लक्षण कहो उनके प्रभो जन जो त्रिगुण से पार हैं ।  
किस भाँति होते पार क्या उन के कहो आचार हैं ॥ २१
- श्री भगवान ने कहा  
पाकर प्रकाश, प्रवृत्ति मोह न पार्थ ! इनसे द्वेष है ।  
यदि हों नहीं वे प्राप्त, उनकी लालसा न विशेष है ॥ २२
- रहता उदासी सा गुणों से हो नहीं विचलित कहीं ।  
सब त्रिगुण करते कार्य हैं यह जान जो डिगता नहीं ॥ २३
- है स्वस्थ, सुख-दुख सम जिसे, सम ढेल पत्थर स्वर्ण भी ।  
जो धीर, निन्दा स्तुति जिसे सम, तुल्य अप्रिय-प्रिय सभी ॥ २४
- सब बन्धु वैरी हैं जिसे अपमान मान समान है ।  
आरम्भ त्यागे जो सभी वह गुणातीत महान है ॥ २५
- जो शुद्ध निश्चल भक्ति से भजता मुझे है नित्य ही ।  
तीनों गुणों से पार होकर ब्रह्म को पाता वही ॥ २६
- अव्यय अमृत मैं और मैं ही ब्रह्मरूप महान हूँ ।  
मैं ही सनातन धर्म और अपार मोद निधान हूँ ॥ २७

ॐ इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्री कृष्णार्जुन संवादे गुणत्रय विभाग योगोनाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥

## पन्द्रहवां अध्याय पुरुषोत्तम योग

श्री भगवान ने कहा

है मूल ऊपर शाख नीचे पत्र जिस के वेद हैं ।  
वे वेदवित् जो जानते अश्वस्थ अव्यय भेद हैं ॥ १

पल्लव विषय गुण से पली अधऊर्ध्व शाखा छा रही ।  
नर लोक में नीचे जडे कर्मानुबन्धी जा रही ॥ २

उसका यहाँ मिलता स्वरूप न आदि मध्याधार से ।  
दृढमूल यह अश्वस्थ काट असंग शस्त्र-प्रहार से ॥ ३

फिर वह निकालो ढूँढ कर पद श्रेष्ठ ठीक प्रकार से ।  
कर प्राप्त जिसको फिर न लौटे, छूटकर संसार से ॥ ४

मैं शरण उस की हूँ पुरुष जो आदि और महान है ।  
उत्पन्न जिससे सब पुरातन यह प्रवृत्ति-विधान है ॥ ५

जीता जिन्होंने संग दोष न मोह जिनमें मान है ।  
मनमें सदा जिन के जगा अध्यात्म ज्ञान प्र धान है ॥  
जिनमें न कोई कामना सुख दुख और न द्रुन्द्र ही ।  
अव्यय परमपद को सदा ज्ञानी पुरुष पाते वही ॥ ५

जिसमें न सूर्य प्रकाश चन्द्र न आग ही का काम है ।  
लौटे न जन जिसमें पहुँच मेरा वही पर धाम है ॥ ६

इस लोक में मेरा सनातन अंश है यह जीव ही ।

- मन के सहित छै प्रकृतिवासी खींचता इन्द्रिय वही ॥ ७
- जब जीव लेता देह अथवा त्यागता सम्बन्ध को ।  
करता ग्रहण इनको सुमन से वायु जैसे गंध को ॥ ८
- रसना, त्वचा, दृग कानएवं नाक, मन-आश्रय लिये ।  
यह जीव सब सेवन किया करता विषय निर्मित किये ॥ ९
- जाते हुए तन त्याग, रहते भोगते गुणयुक्त भी ।  
जानें न इसको मूढ मानव, जानते ज्ञानी सभी ॥ १०
- कर यत्न योगी आपमें इसको बसा पहिचानते ।  
पर यत्न करके भी न मूढ अशुद्ध-आत्मा जानते ॥ ११
- जिसमें प्रकाशित है जगत्, जो तेज दिव्य दिनेश में ।  
वह तेज मेरा तेज है जो अग्नि में राकेश में ॥ १२
- क्षिति मे बसा निज तेज से मै प्रणियों को धर रहा ।  
रस रूप होकर सोम सारी पुष्ट औषधि कर रहा ॥ १३
- मैं प्राणियों में बस रहा हो रूप वैश्वानर महा ।  
पाचन चतुर्विध अन्न प्राणापान-युत हो कर रहा ॥ १४
- सुधि ज्ञान और अपोह मुझसे मैं सभी में बस रहा ।  
वेदान्त कर्ता वेदवेद्य सुवेदवित् मुझको कहा ॥ १५
- इस लोक में क्षर और अक्षर दो पुरुष हैं सर्वदा ।  
क्षर सर्वभूतों को कहा कूटस्थ है अक्षर सदा ॥ १६
- कहते, जिसे परमात्मा उत्तम पुरुष इनसे परे ।

त्रैलोक्य में रह ईश अव्यय सर्व जग पोषण करे ॥ १७

क्षर और अक्षर से परे मैं श्रेष्ठ हूँ संसार में ।  
इस हेतु पुरुषोत्तम कहाया वेद लोकाचार में ॥ १८

तज मोह पुरुषोत्तम मुझे जो पार्थ! लेता जान है ।  
सब भाँति वह सर्वज्ञ हो भजता मुझे मतिमान् है ॥ १९

मैंने कहा यह गुप्त से भी गुप्त ज्ञान महान् है ।  
यह जान कर करता सदा जीवन सफल मतिमान् है ॥ २०

ॐ इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्री कृष्णार्जुन संवादे पुरुषोत्तम योगोनाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥

## सोलहवाँ अध्याय दैवासुर सम्पद्धिभाग योग

श्री भगवान ने कहा

भय-हीनता, दम, सत्त्व की संशुद्धि, दृढता ज्ञान की ।  
तन-मन सरलता, यज्ञ तप स्वाध्याय, सत्त्विक दान भी ॥ १

मृदुता, अहिंसा, सत्य, करुणा, शान्ति, क्रोध-विहीनता ।  
लज्जा, अचञ्चलता, अनिन्दा, त्याग, तृष्णाहीनता ॥ २

धृति, तेज, पावनता, क्षमा अद्रोह मान-विहीनता ।  
ये चिन्ह उनके पार्थ ! जिन को प्राप्त दैवी-सम्पदा ॥ ३

मद, मान, मिथ्याचार, क्रोध, कठोरता, अज्ञान भी ।  
वे आसुरी सम्पत्ति में जन्मे हुए पाते सभी ॥ ४

दे मोक्ष दैवी, बाँधती है आसुरी सम्पत्ति ये ।  
मत शोक अर्जुन ! कर हुआ तू दैव-सम्पद् को लिये ॥ ५

दो भाँति की है सृष्टि दैवी आसुरी संसार में ।  
सुन आसुरी अब पार्थ! दैवी कह चु का विस्तार में ॥ ६

क्या है प्रवृत्ति निवृत्ति! जग में जानते आसुर नहीं ।  
आचार, सत्य, विशुद्धता होती नहीं उनमें कहीं ॥ ७

कहते असुर झूठा जगत्, बिन ईश बिन आधार है ।  
केवल परस्पर योग से बस भोग-हित संसार है ॥ ८

इस दृष्टि को धर, मूढ नर, नष्टात्म, रत अपकार में ।

- जग-नाश हित वे क्रूर-कर्मी जन्मते संसार में ॥ ९
- मद मान दम्भ-विलीन, काम अपूर का आश्रय लिये ।  
वर्ते अशुचि नर मोह वश हो कर असत् आग्रह किये ॥ १०
- उनमें मरण पर्यन्त चिन्ताएँ अनन्त सदा रहें ।  
वे भोग विषयों में लगे आनन्द उसही को कहें ॥ ११
- आशा कुबन्धन में बँधे, धुन क्रोध एवं काम की ।  
सुख भोग हित अन्याय से इच्छा करें धन धाम की ॥ १२
- यह पा लिया अब वह मनोरथ सिद्ध कर लूँगा सभी ।  
यह धन हुआ मेरा मिलेगा और भी आगे अभी ॥ १३
- यह शत्रु मैंने आज मारा, कल हनूँगा और भी ।  
भोगी, सुखी, बलवान, ईश्वर, सिद्ध हूँ, मैं ही सभी ॥ १४
- श्रीमान् और कुलीन मैं हूँ कौन मुझसे और है ।  
मख, दान, सुख भी मैं करूँगा, मूढता-मोहित कहें ॥ १५
- भूले अनेकों कल्पना में मोह=बन्धन बीच हैं ।  
वे काम-भोगों में फँसे पडते नरक में नीच हैं ॥ १६
- धन, मान, मद में मस्त, ऐंटू निज-प्रशंसक अज्ञ हैं ।  
वे दम्भ से विधिहीन करते नाम ही को यज्ञ हैं ॥ १७
- बल, काम क्रोध, घमण्ड वश, निन्दा करें मद से तने ।  
सब में व अपने में बसे मुझ देव के द्वेषी बने ॥ १८
- जो हैं नराधम क्रूर द्वेषी लीन पापाचार में ।



उनको गिराता नित्य आसुर योनि में संसार में ॥ १९

वे जन्म-जन्म सदैव आसुर योनि ही पाते रहें ।  
मुझ को न पाकर अन्त में अति ही अधोगति को गहें ॥ २०

ये काम लालच क्रोध तीनों ही नरक के द्वार हैं ।  
इस हेतु तीनों आत्म-नाशक त्याज्य सर्व प्रकार हैं ॥ २१

इन नरक द्वारों से पुरुष जो मुक्त पार्थ ! सदैव ही ।  
शुभ आचरण नित हेतु करता परम गति पाता वही ॥ २२

जो शास्त्र विधि को छोड़, करता कर्म मनमाने सभी ।  
वह सिद्धि, सुख अथवा परमगति को नपाता है कभी ॥ २३

इस हेतु कार्य-अकार्य-निर्णय मान शास्त्र प्रमाण ही ।  
करना कहा जो शास्त्र में है जानकर वह कर वही ॥ २४

ॐ इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्री कृष्णार्जुन संवादे दैवासुर सम्पद्धिभाग योगोनाम षोडशोऽध्यायः ॥

## सत्रहवां अध्याय श्रद्धात्रयविभाग योग

अर्जुन ने कहा

करते यजन जो शास्त्रविधि को छोड़ श्रद्धायुक्त हो ।  
हे कृष्ण ! उनकी सत्त्व, रज, तम कौनसी निष्ठा कहो ॥ १

श्री भगवान ने कहा

श्रद्धा स्वभावज प्राणियों में पार्थ ! तीन प्रकार से ।  
सुन सात्त्विकी भी रजसी भी तामसी विस्तार से ॥ २

श्रद्धा सभी में सत्त्व सम, श्रद्धा स्वरूप मनुष्य है ।  
जिस की रहे जिस भाँति श्रद्धा वह उसी-सा नित्य है ॥ ३

सात्त्विक सुरुओं का, यक्ष राक्षस का यजन राजन करें ।  
नित भूत प्रेतों का यजन जन तामसी मन में धरें ॥ ४

जो घोर तप तपते पुरुष हैं शास्त्र-विधि से हीन हो ।  
मद दम्भ-पूरित, कामना बल राग के आधीन हो ॥ ५

तन पंच-भूतों को, मुझे भी - देह में जो बस रहा ।  
जो कष्ट देते जान उनको मूढमति आसुर महा ॥ ६

हे पार्थ! प्रिय सब को सदा आहार तीन प्रकार के ।  
इस भाँति ही तप दान मख भी हैं, सुनो विस्तार से ॥ ७

देँ आयु, सात्त्विक बुद्धि, बल, सुख, प्रीति एवं स्वास्थ्य भी ।  
रसमय चिरस्थिर हृद्य चिकने खाद्य सात्त्विक प्रिय सभी ॥ ८

- नमकीन, कटु, खट्टे, गराम, रूखे व दाहाक, तीक्ष्ण ही ।  
दुख-शोक-रोगद खाद्य, प्रिय हैं राजसी को नित्य ही ॥ ९
- रखा हुआ कुछ काल का, रसहीन बासी या सडा ।  
नर तामसी अपवित्र भोजन भोगते जूठा पडा ॥ १०
- फल आश तज, जो शास्त्र-विधिवत, मानकर कर्तव्य ही ।  
अतिशान्त मन करके किया हो, यज्ञ सात्त्विक है वही ॥ ११
- हे भरतश्रेष्ठ! सदैव ही फल-वासना जिसमें बसी ।  
दम्भाचरण हित जो किया वह यज्ञ जानो राजसी ॥ १२
- विधि-अन्नदान-विहीन जो, बिन दक्षिणा के हो रहा ।  
बिन मन्त्र-श्रद्धा, यज्ञ जो वह तामसी जाता कहा ॥ १३
- सुर द्विज तथा गुरु प्राज्ञ पूजन ब्रह्मचर्य सदैव ही ।  
शुचिता अहिंसा नम्रता तन की तपस्या है यही ॥ १४
- सच्चे वचन, हितकर, मधुर उद्वेग-विरहित नित्य ही ।  
स्वाध्याय का अभ्यास भी, वाणी तपस्या है यही ॥ १५
- सौम्यत्व, मौन, प्रसाद मन का, शुद्ध भाव सदैव ही ।  
करना मनोनिग्रह सदा मन की तपस्या है यही ॥ १६
- श्रद्धा सहित हो योगयुत फल वासनाएँ तज सभी ।  
करते पुरुष, तप ये त्रिविध, सत्त्विक तपस्या है तभी ॥ १७
- सत्कार पूजा मान के हित दम्भ से जो हो रहा ।

- वह तप अनिश्चित और नश्वर, राजसी जाता कहा ॥ १८
- जो मूढ-हठ से आप ही को कष्ट देकर हो रहा ।  
अथवा किया पर-नाश-हित, तप तामसी उसको कहा । १९
- देना समझ कर अनुपकारी को दिया जो दान है ।  
वह दान सत्त्विक देश काल सुपात्र का जब ध्यान है ॥ २०
- जो दान प्रत्युपकार के हित क्लेश पाकर के किया ।  
है राजसी वह दान जो फल आश के हित है दिया ॥ २१
- बिन देश काल सुपात्र देखे जो दिया बिन मान से ।  
अथवा दिया अवहेलना से तामसी वह दान है ॥ २२
- शुभ ॐ तत् सत् ब्रह्म का यह त्रिविध उच्चारण कहा ।  
निर्मित इसीसे आदि में है, वेद ब्राह्मण मख महा ॥ २३
- इस हेतु कहकर ॐ होते नित्य मख तप दान भी ।  
सब ब्रह्मनिष्ठों के सदा शास्त्रोक्त कर्म-विधान भी ॥ २४
- कल्याण-इच्छुक त्याग फल 'तत्' शब्द कहकर सर्वदा ।  
तप यज्ञ दान क्रियादि करते हैं विविध विध से सदा ॥ २५
- सद् सादु भावों के लिए 'सत्' का सदैव प्रयोग है ।  
हे पार्थ ! उत्तम कर्म में 'सत्' शब्द का उपयोग है ॥ २६
- 'सत्' ही कहाती दान तप में यज्ञ में दृढता सभी ।  
कहते उन्हें 'सत्' ही सदा उनके लिए जो कर्म भी ॥ २७

सब ही असत् श्रद्धा बिना जो होम तप या दान है ।  
देता न वह इस लोक में या मृत्यु पर कल्याण है ॥

२८

ॐ इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्री कृष्णार्जुन संवादे श्रद्धात्रयविभाग योगोनाम सप्तदशोऽध्यायः ॥

## अठारहवाँ अध्याय मोक्षसंन्यास योग

अर्जुन ने कहा

संन्यास एवं त्याग-तत्त्व, पृथक् महाबाहो! कहो ।  
इच्छा मुझे है हृषीकेश ! समस्त इन का ज्ञान हो ॥ १

श्री भगवान ने कहा

सब काम्य-कर्मन्यास ही संन्यास ज्ञानी मानते ।  
सब कर्मफल के त्याग ही को त्याग विज्ञ बखानते ॥ २

हैं दोषवत् सब कर्म कहते त्याज्य कुछ विद्वान् हैं ।  
तप दान यज्ञ न त्यागिये कुछ दे रहे यह ज्ञान है ॥ ३

हे पार्थ ! सुन जो ठीक मेरा त्याग हेतु विचार है ।  
हे पुरुषव्याघ्र ! कहा गया यह त्याग तीन प्रकार है ॥ ४

मख दान तप ये कर्म करने योग्य त्याज्य न हैं कभी ।  
मख दान तप विद्वान को भी शुद्ध करते हैं सभी ॥ ५

ये कर्म भी आसक्ति बिन हो, त्याग कर फल नित्य ही ।  
करने उचित हैं पार्थ ! मेरा श्रेष्ठ निश्चित मत यही ॥ ६

निज नियत-कर्म न त्यागने के योग्य होते हैं कभी ।  
यदि मोह से हो त्याग तो वह त्याग तामस है सभी ॥ ७

दुख जान कायाक्लेश भय से कर्म यदि त्यागे कहीं ।  
वह राजसी है त्याग, उसका फल कभी मिलता नहीं ॥ ८

- फल, संग, तज जो कर्म नियमित कर्म अपना मान है ।  
माना गया वह त्याग शुभ सात्त्विक सदैव महान है ॥ ९
- नहिं द्वेष अ कुशल कर्म से जो कुशल में नहिं लीन है ।  
संशयरहित त्यागी वही है सत्त्वनिष्ठ प्रवीन है ॥ १०
- सम्भव नहीं है देह धारी त्याग दे सब कर्म ही ।  
फल कर्म के जो त्यागता, त्यागी कहा जाता वही ॥ ११
- पाते सकामी देह तज फल शुभ अशुभ मिश्रित सभी ।  
त्यागी पुरुष को पर न होता है त्रिविध फल ये कभी ॥ १२
- हैं पाँच कारण जान लो सब कर्म होने के लिये ।  
सुन मैं सुनाता सांख्य के सिद्धान्त में जो भी दिये ॥ १३
- आधार कर्ता और सब साधन पृथक् विस्तार से ।  
चेष्टा विविध विध दैव ये हैं हेतु पाँच प्रकार के ॥ १४
- तन मन वचन से जन सभी जो कर्म जग में कर रहे ।  
हो ठीक या विपरीत उनके पाँच से कारण कहे ॥ १५
- जो मूढ अपने आप को ही किन्तु कर्ता मानता ।  
उसकी नहीं है शुद्ध बुद्धि न ठीक वह कुछ जानता ॥ १६
- जो जन अहंकृतिभाव बिन, नहिं लिप्त जिसकी बुद्धि भी ।  
नहिं मारता वह मारकर भी, है न बन्धन में कभी ॥ १७
- नित ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय करते कर्म में है प्रेरणा ।  
है कर्मसंग्रह, करण, कर्ता, कर्म तीनों में बना ॥ १८

- सुन ज्ञान एवं कर्म कर्ता भेद गुण अनुसार है ।  
जैसे कहे हैं सांख्य में वे सर्व तीन प्रकार हैं ॥ १९
- सब भिन्न भूतों में अनश्चर एक भाव अभिन्न ही ।  
जिस ज्ञान से जन देखता है, ज्ञान सत्त्विक है वही ॥ २०
- जिस ज्ञान से सब प्रणियों में भिन्नता का भान है ।  
सब में अनेकों भाव दिखते, राजसी वह ज्ञान है ॥ २१
- जो एक ही लघु कार्य में आसक्त पूर्ण-समान है ।  
निःसार युक्ति विहीन है वह तुच्छ तामस ज्ञान है ॥ २२
- फल-आश-त्यागी नित्य नियमित कर्म जो भी कर रहा ।  
बिन राग द्वेष, असंग हो, वह कर्म सत्त्विक है कहा ॥ २३
- आशा लिये फल की अहंकृत-बुद्धि से जो काम है ।  
अति ही परिश्रम से किया, राजस उसी का नाम है ॥ २४
- परिणाम, पौरुष, हानि, हिंसा का न जिसमें ध्यान है ।  
वह तामसी है कर्म जिसके मूल में अज्ञान है ॥ २५
- बिन अहंकार, असंग, धीरजवान्, उत्साही महा ।  
अविकार सिद्धि असिद्धि में सत्त्विक वही कर्ता कहा ॥ २६
- हिंसक, विषय-मय, लोभ-हर्ष-विषाद-युक्त मलीन है ।  
फल कामना में लीन, कर्ता राजसी वह दीन है ॥ २७
- चंचल, घमंडी, शठ, विषादी, दीर्घसूत्री, आलसी ।  
शिक्षा-रहित, पर-हानि-कर, कर्ता कहा है तामसी ॥ २८



- होते त्रिविध ही हे धनंजय! बुद्धि धृति के भेद भी ।  
सुन भिन्न-भिन्न समस्त गुण-अनुसार कहता हूँ अभी ॥ २९
- जाने प्रवृत्ति निवृत्ति बन्धन मोक्ष कार्य अकार्य भी ।  
हे पार्थ! सत्त्विक बुद्धि है जो भय अभय जाने सभी ॥ ३०
- जिस बुद्धि से निर्णय न कार्य अकार्य बीच यथार्थ है ।  
जाने न धर्म अधर्म को वह राजसी मति पार्थ! है ॥ ३१
- तम- व्याप्त हो जो बुद्धि, धर्म अधर्म ही को मानती ।  
वह तामसी जो नित्य अर्जुन ! अर्थ उलटे जानती ॥ ३२
- जब जन अचल धृति से किया मन प्राण इन्द्रिय से सभी ।  
धारण करे नित योग से, धृति शुद्ध सत्त्विक है तभी ॥ ३३
- आसक्ति से फल - कामना - प्रिय धर्म अर्थ व काम है ।  
धारण किये जिससे उसी का राजसी धृति नाम है ॥ ३४
- तामस वही धृति पार्थ! जिससे स्वप्न, भय, उन्माद को ।  
तजता नहीं दुर्बुद्धि मानव, शोक और विषाद को ॥ ३५
- अब सुन त्रिविध सुख-भेद भी जिसके सदा अभ्यास से ।  
सब दुःख का कर अन्त अर्जुन ! जन उसी में जा बसे ॥ ३६
- आरम्भ में विषवत् सुधा सम किन्तु मधु परिणाम है ।  
जो आत्म बुद्धि प्रसाद सुख सत्त्विक उसी का नाम है ॥ ३७
- राजस वही सुख है कि जो इन्द्रिय-विषय-संयोग से ।  
पहिले सुधा सम, अन्त में विष-तुल्य हो फल-भोग से ॥ ३८

- आरम्भ एवं अन्त में जो मोह जन को दे रहा ।  
आलस्य नींद प्रमाद से उत्पन्न सुख तामस कहा ॥ ३९
- इस भूमि पर आकाश अथवा देवताओं में कहीं ।  
हो प्रकृति के इन तीन गुण से मुक्त ऐसा कुछ नहीं ॥ ४०
- द्विज और क्षत्रिय वैश्य शूद्रों के परंतप! कर्म भी ।  
उनके स्वभावज ही गुणों अनुसार बाँटे हैं सभी ॥ ४१
- शम दम क्षमा तप शुद्धि आस्तिक बुद्धि भी विज्ञान भी ।  
द्विज के स्वभावज कर्म हैं, तन मन सरलता ज्ञान भी ॥ ४२
- धृति शूरता तेजस्विता रण से न हटना धर्म है ।  
चातुर्य स्वामी भाव देना दान क्षत्रिय कर्म है ॥ ४३
- कृषि धेनु-पालन वैश्य का वाणिज्य करना कर्म है ।  
नित कर्म शूद्रों का स्वभावज लोक सेवा धर्म है ॥ ४४
- करता रहे जो कर्म निज-निज सिद्धि पाता है वही ।  
निज-कर्म-रत नर सिद्धि सुन किस भाँति पाता नित्य ही ॥ ४५
- जिससो प्रवृत्ति समस्त जीवों की तथा जग व्याप्त है ।  
निज कर्म से, नर पूज उसको सिद्धि करता प्राप्त है ॥ ४६
- निज धर्म निर्गुण श्रेष्ठ है, सुन्दर सुलभ पर-धर्म से ।  
होता न पाप स्वभाव के अनुसार अपने कर्म से ॥ ४७
- निज नियत कर्म स्वदोष हों, तो भी उचित नहीं त्याग है ।  
सब कर्म दोषों से धिरे जैसे धुएँ से आग है ॥ ४८

- वश में किये मन, मति असक्त, न कामना कुछ व्याप्त की ।  
नैष्कर्म्य-सिद्धि महान तब, संन्यास द्वारा प्राप्त हो ॥ ४९
- जिस भाँति पाकर सिद्धि होती ब्रह्म-प्राप्ति सदैव ही ।  
संक्षेप में सुन ज्ञान की अर्जुन परा-निष्ठा वही ॥ ५०
- कर आत्म-संयम धैर्य से अतिशुद्ध मति में लीन हो ।  
सब त्याग शब्दादिक विषय, नित राग-द्वेष-विहीन हो ॥ ५१
- एकान्तसेवी अल्प-भोजी तन मन वचन वश किये ।  
हो ध्यानयुक्त सदैव ही, वैराग्य का आश्रय लिये ॥ ५२
- बल अहंकार घमंड संग्रह क्रोध काम विमुक्त हो ।  
ममता रहित नर शान्त, ब्रह्म-विहार से उपयुक्त हो ॥ ५३
- जो ब्रह्मभूत प्रसन्न मन है, चाह-चिन्ताहीन है ।  
सम भाव सब में साध, होता भक्ति में लवलीन है ॥ ५४
- मैं कौन कितना, भक्ति से उसको सभी यह ज्ञान हो ।  
मुझमें मिले, मेरी उसे जब तत्त्व से पहिचान हो ॥ ५५
- करता रहे सब कर्म भी मेरा सदा आश्रय धरे ।  
मेरी कृपा से प्राप्त वह अव्यय सनातन पद करे ॥ ५६
- मन से मुझे सारे समर्पित कर्म कर मत्पर हुआ ।  
मुझमें निरन्तर चित्त धर, सम-बुद्धि में तत्पर हुआ । ५७
- रख चित्त मुझमें, मम कृपा से दुःख सब तर जायगा ।  
अभिमान से मेरी न सुन कर, नाश केवल पायगा ॥ ५८

- ‘मैं नहीं करूँगा युद्ध’ तुम अभिमान से कहते अभी ।  
यह व्यर्थ निश्चय है प्रकृति तुम से करा लेगी सभी ॥ ५९
- करना नहीं जो चाहता है मोह में तल्लीन हो ।  
वह सब करेगा निज स्वभावज कर्म के आधीन हो ॥ ६०
- ईश्वर हृदय में प्राणियों के बस रहा है नित्य ही ।  
सब जीव यन्त्रारूढ माया से घुमाता है वही ॥ ६१
- इस हेतु ले उसकी शरण सब भाँति से सब ओर से ।  
शुभ शांति लेगा नित्य-पद, उसकी कृपा की ओर से ॥ ६२
- तुझसे कहा अतिगुप्त ज्ञान समस्त यह विस्तार से ।  
जिस भाँति जो चाहे वही कर पार्थ! पूर्ण विचार से ॥ ६३
- अब अन्त में अतिगुप्त हे कौन्तेय ! कहता बात हूँ ।  
अति प्रिय मुझे तू अस्तु हित की बात कहता तात हूँ ॥ ६४
- रख मन मुझी में, कर यजन, मम भक्त बन, कर वन्दना ।  
मुझमें मिलेगा, सत्य प्रण तुझसे, मुझे तू प्रिय घना ॥ ६५
- तज धर्म सारे एक मेरी ही शरण को प्राप्त हो ।  
मैं मुक्त पापों से करूँगा तू न चिन्ता-व्याप्त हो ॥ ६६
- निन्दा करे मेरी, न सुनना चाहता, बिन भक्ति है ।  
उसको न देना ज्ञान यह जिसमें नहीं तप-शक्ति है ॥ ६७
- यह गुप्त ज्ञान महान भक्तों से कहेगा जो सही ।  
मुझमें मिलेगा भक्ति पा मेरी, असंशय नर वही ॥ ६८

- उससे अधिक प्रिय कार्य-कर्ता विश्व में मेरा नहीं ।  
उससे अधिक मुझको न प्यारा दूसरा होगा कहीं ॥ ६९
- मेरी तुम्हारी धर्म-चर्चा जो पढेगा ध्यान से ।  
मैं मानता पूजा मुझे है ज्ञानयज्ञ विधान से ॥ ७०
- बिन दोष ढूँढे जो सुनेगा नित्य श्रद्धायुक्त हो ।  
वह पुण्यवानों का परम शुभ लोक लेगा मुक्त हो ॥ ७१
- अर्जुन! कहो तुमने सुना यह ज्ञान सारा ध्यान से ।  
अब भी छूटे हो या नहीं उस मोहमय अज्ञान से ॥ ७२
- अर्जुन ने कहा  
अच्युत्! कृपा से आपकी अब मोह सब जाता रहा ।  
संशय रहित हूँ सुधि मुझे आई, करूँगा हरि कहा ॥ ७३
- संजय ने कहा  
इस भाँति यह रोमाञ्चकारी और श्रेष्ठ रहस्य भी ।  
श्री कृष्ण अर्जुन का सुना संवाद है मैंने सभी ॥ ७४
- साक्षात् योगेश्वर स्वयं श्री कृष्ण का वर्णन किया ।  
यह श्रेष्ठ योग-रहस्य व्यास प्रसाद से सब सुन लिया ॥ ७५
- श्री कृष्ण, अर्जुन का निराला पुण्यमय संवाद है ।  
हर बार देता हर्ष है, आता मुझे जब याद है ॥ ७६
- जब याद आता उस अनोखे रूप का विस्तार है ।  
होता तभी विस्मय तथा आनन्द बारम्बार है ॥ ७७

श्री कृष्ण योगेश्वर जहाँ अर्जुन धनुर्धारी वहाँ ।

वैभव, विजय, श्री नीति सब मत से हमारे हैं वहाँ ॥ ७८

ॐ इति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे  
श्री कृष्णार्जुन संवादे मोक्षसंन्यास योगोनाम अष्टा दशोऽध्यायः ॥



Hindu Temple of Ottawa-Carleton Inc.  
4835 Bank Street, Ottawa, Ontario K1X 1G6

## भगवतीता की आरती

ॐ जय भगवतीते, मैया जय भगवतीते ।  
हरि-हिय-कमल विहारिणि सुन्दर सुपुनीते ॥  
ॐ जय भगवतीते ॥

कर्म-सुमर्म-प्रकाशिनि कामासक्तिहरा ।  
तत्त्वज्ञान-विकाशिनि विद्या ब्रह्म परा ॥ जय ॥

निश्चल-भक्ति-विधायिनि निर्मल मलहारी ।  
शरण-सहस्य -प्रदायिनि सब विधि सुखकारी ॥ जय ॥

राग-द्वेष-विदारिणि कारिणि मोद सदा ।  
भव-भय-हारिणि तरिणि परमानन्द प्रदा ॥ जय ॥

आसुर-भाव-विनाशिनि नाशिनि तम रजनी ।  
दैवी सद् गुणदायिनि हरि-रसिका सजनी ॥ जय ॥

समता, त्याग, सिखावनि, हरि मुख की बानी ।  
सकल शास्त्र की स्वामिनी श्रुतियों की रानी ॥ जय ॥

दया-सुधा बरसावनि. मातु! कृपा कीजै ।  
हरिपद-प्रेम दान कर अपनौ कर लीजै ॥ जय ॥